सप्त सरिता

(हिन्दी के प्रथम श्रेणी के नाटककारों के
सात एकांकी नाटकों का संग्रह)

— संग्रहकर्ता —
प्रो० उदयशंकर भट्ट
सनातन धर्म कालेज, लाहौर।

ओरिएण्टल बुकडिपो लि०
हस्पताल रोड, लाहौर।

प्रथमावृत्ति] [१९४६

विषय-सूची

दो शब्द

नये एकांकी नाटकों का प्रचार हिन्दी साहित्य मे नया ही हुआ है यद्यपि हिन्दी में एकांकी नाटक लिखने का प्रचार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समय से माना जाता है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने न केवल स्वय ही बड़े और एकांकी नाटक लिखे अन्य साहित्यिकों को भी नाटक लिखने के लिये प्रेरित किया।

फिर भी इतना स्पष्ट है कि ये एकांकी नाटक आजकल के नाटकों की तरह नहीं लिखे जाते थे। उन्हें कई लोग 'रूपक' नाम से पुकारते थे। उनकी बनावट भी आधुनिक नाटकों से भिन्न होती थी। इसलिये हमने भारतेन्दुकालीन नाटकों को आधुनिक नाटकों में नहीं गिना है । वर्तमान नाटकों का प्रारंभ बंगला और विशेषकर अंग्रेजी से हुआ है और वह भी उन लेखकों द्वारा जो प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी से प्रभावित हुए हैं।

एकांकी नाटक स्वयं अपने में पूर्ण होते हैं । इनमें किसी

बात की कमी नहीं रह पाती। इसलिये ये स्वयं कहानी की तरह साहित्य के एक अंग है। ये नाटक न केवल संवाद हैं और न कोई छोटी कहानी। नाटक द्वारा जो एक रस की सृष्टि होनी चाहिये उसका ये नाटक पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। इसीलिये ये कहानी कविता की तरह साहित्य का एक पुष्ट अंग हैं।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि साधारणतया एकांकी नाटकों का प्रारंभ हरिश्चन्द्र के काल में ही हो गया था। उस समय हिन्दी का एकांकी नाटक प्रथमावस्था में था। प्रायः तीन प्रकार से उस समय नाटक लिखे जाते थे—एक संस्कृत के नाट्य शास्त्र के आधार पर, दूसरे पश्चिमीय प्रणाली के अनुकरण पर, तीसरे जनता के मनोनुकूल स्वांग आदि के रूप में।

दूसरी अवस्था नाटकों की श्री जयशंकर प्रसाद के काल से प्रभावित होकर आई। इस समय श्री प्रसाद ने अपने बड़े नाटको के साथ छोटे नाटक भी लिखे। कुछ समालोचकों का मत है कि वास्तविक एकांकी नाटकरचना प्रसाद के 'एक घूंट' से प्रारंभ होती है। वस्तुत. उसमे प्राचीन हरिश्चन्द्र काल तक की परंपरा के आधार पर संस्कृत से कुछ भी नहीं लिया गया। वह एक प्रकार से वर्तमान टेकनीक के आधार पर लिखा गया है। 'एक घूंट' मे किसी घटना का अनायास ही उद्घाटन नहीं हुआ है। जो संघर्ष प्रारंभ होता है वही धीरे धीरे बढ़ता है और अन्त मे दोनों पक्षों में से एक पक्ष प्रबल होकर घटना को तीव्र बनाता हुआ समाप्त हो जाता है।

तीसरी अवस्था मे हमारे वास्तविक नाटकों का प्रारंभ

होता है। इस काल में अनेकों नये नये विषयों पर नाटकों का प्रणयन हुआ है। इस समय की नाटकरचना मे विषयों की विभिन्नता के साथ समस्याओं का उद्घाटन, प्रकट करने का कौशल, वस्तु का विकास, शैली का परिमार्जन, संवाद का चमत्कार आदि बातें पहले की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ होकर सामने आई हैं। इस काल के नाटकों में रोमान्सवाद, यथार्थ-वाद, प्रगतिवाद आदि की ओर लेखकों का दृष्टिकोण हो जाने के कारण रचना में व्यापकता, कौतूहल का जागरण भी हुआ है। वस्तुतः यही एकांकी नाटकों की प्रौढ़ता का काल माना जाना चाहिए। इस समय के एकांकी नाटककारों में दृष्टि की तीक्ष्णता जो नाट्य कला का एक गुण है, काफी स्पष्ट होकर आई है।

इस काल में विज्ञान के चमत्कार ने भी साहित्य को बहुमुखी एवं व्यापक बना दिया है। रेल, तार, हवाई जहाज, टेलीफोन ने समय की, देशों की दूरी को कम कर दिया है। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही था कि लेखक की ज्ञानवृद्धि होती, उसके सामने संसार की समस्याएँ व्यापक रूप में आतीं। इसी दृष्टिकोण को संसार के अन्य साहित्यिकों की तरह हमारे देश का साहित्यिक भी विशाल अनुभव के आधार पर छोटी से छोटी बातों को लेकर, उनकी समस्यायें बनाकर हमारे सामने रख रहा है। इसीलिये युग के अनुसार वैज्ञानिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक आदि सभी विषयों के नाटकों की रचना होने लगी है। यह युग का प्रभाव है जिसने हमें वैसी दृष्टि रखने को बाध्य कर दिया है। इसी समय

दूसरे विश्वयुद्ध ने राजनीतिक समस्याओं के दाव पेंच भी हमें बतला दिये हैं।

बालकों की बुद्धियोग्यता को दृष्टि मे रखकर हमने सरल, सुबोध तथा कई प्रकार के नाटकों को प्रस्तुत संकलन मे स्थान दिया है। फिर भी ध्यान रखा गया है कि किसी प्रकार का अश्लील तथा यौन संबन्धी कोई प्रश्न इस संग्रह के नाटकों मे न आने पावे और बालकों को प्रत्येक प्रकार के नाटकों की रचना का सरलतया बोध भी हो जाय। वर्तमान संग्रह में प्रायः सभी प्रमुख नाटककारों के हमने नाटक चुने हैं। श्री रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क,' श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी, इस समय के प्रमुख एकांकी नाटककार हैं। शेष दो नाटककार भी धीरे-धीरे अपनी प्रतिभा द्वारा हिन्दी में अपना स्थान बना रहे है। हमे विश्वास है कि यह संग्रह विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

अन्त मे मैं अपने सहयोगी नाटककारों को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अपने उत्तम नाटक देकर मेरा और प्रकाशक का उत्साह बढ़ाया है।

संग्रहकर्ता

सनातन धर्म कालेज,
लाहौर।

समुद्रगुप्त पराक्रमांक

[एक ऐतिहासिक एकांकी नाटक]

—लेखक—

डा० रामकुमार वर्मा

डा० रामकुमार वर्मा

परिचय

डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी के विशेष अध्ययनशील कवि हैं। इन्होंने रहस्यवाद का विशेष अध्ययन किया है। इनके इस अध्ययन का परिणाम इनकी कविता पर इतना अधिक पड़ा है कि ये स्वयं रहस्यवादी कवि बन गये हैं। इनकी कविता का परिचय चन्द्रकिरण और चित्ररेखा से पाया जा सकता है।

रामकुमार वर्मा कुशल नाटककार भी हैं। इनके नाटकों में पात्रों का आन्तरिक संघर्ष विशेष कुशलता के साथ चित्रित किया गया है। डा० वर्मा ने ऐतिहासिक और सामाजिक सभी प्रकार के नाटक लिखे हैं। इनके सभी नाटक खेले जा चुके हैं। इसलिए इनका अभिनयात्मक दृष्टिकोण बड़ा व्यापक और शुद्ध है। प्रस्तुत नाटक समुद्रगुप्त पराक्रमांक सम्राट् समुद्रगुप्त के यहाँ रत्नों के चोरी हो जाने के ऊपर है। इस नाटक की विशेषता यह है कि धवलकीर्ति जो रत्नों का प्रलोभन देकर रत्नप्रभा नर्त्तकी को अपनाना चाहता था वह सम्राट् समुद्रगुप्त के सामने अपना दोष स्वीकार कर लेता है। सम्राट् का वाक्कौशल इतना अद्भुत है कि चतुर से चतुर मणिभद्र और धवलकीर्ति भी अपने दोष को नहीं छिपा सके। डा० वर्मा के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि धीरे २ वैज्ञानिक वाग्चातुर्य के द्वारा पात्रों का रहस्य खुलता है। इनका यह नाटक अपनी इसी विशेषता के लिए प्रसिद्ध है।

डा० रामकुमार वर्मा के ग्रन्थः—

काव्य—चित्तौड़ की चिता, अंजलि, रूपराशि, चित्ररेखा, चन्द्रकिरण, निशीथ, संकेत (अप्रकाशित)।

नाटक—पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा, विभूति, और पुरस्कार।

संग्रह—कवि पदावली, हिन्दी गीतिकाव्य।

गद्यकाव्य—हिमहास।

समालोचना—साहित्य समालोचना, कबीर का रहस्यवाद, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, संत कबीर।

नाटक के पात्र

समुद्रगुप्त पराक्रमांक	पाटलिपुत्र के सम्राट्
धवलकीर्ति	सिंहल के राजदूत
मणिभद्र	भाण्डागार के अधिकरण
कोदण्ड	महाबलाध्यक्ष
घटोत्कच } वीरबाहु }	भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा निर्माण करनेवाले शिल्पी
प्रियदर्शिका	सम्राट् चन्द्रगुप्त की वीणावाहिनी
रत्नप्रभा	राजनर्त्तकी
प्रहरी	

स्थान—पाटलिपुत्र

काल—४२० वि०

समुद्रगुप्त पराक्रमांक

[भाण्डागार का बाहरी कक्ष । दीवालों पर अनेक नृत्य-मुद्राओं में नर्त्तकियों के चित्र हैं । स्फटिक पत्थरों के स्तंभों पर दीपों का आलोक हो रहा है । पीछे लोह-दंडों से बना हुआ परिवेषण है ।

मंच के बीच में समुद्रगुप्त खड़े हुए हैं । शरीर पर श्वेत और पीत परिधान । रत्नजटित शिरोभूषण, केश उन्मुक्त । पुष्ट वक्षस्थल जिस पर रत्नों के हार । कटिबन्ध में खड्ग । उनकी मुद्रा गभीर है ।

उनके दाहिनी ओर सिंहल के राजदूत धवलकीर्ति और राज्य के महाबलाध्यक्ष कोदण्ड हैं और बाईं ओर भाण्डागार के अधिकरण मणिभद्र हैं । धवलकीर्ति का पीत, मणिभद्र का श्वेत और कोदण्ड का नील परिधान है । कोदण्ड सैनिक-वेश में है । द्वार पर शस्त्र लिये हुए प्रहरी । समुद्रगुप्त धवलकीर्ति को संबोधन करते हुए कहते हैं ।]

समुद्रगुप्त—तो अब यह निश्चय है कि भांडागार में वे रत्न नहीं हैं !

धवलकीर्ति—यह तो आपने स्वयं देखा, सम्राट् ! किन्तु भांडागार से इस तरह चोरी हो जाना आश्चर्यजनक है । भांडागार

के अधिकरण मणिभद्र स्वयं कुछ नही कह सकते।

समुद्रगुप्त—(तीव्र स्वर से) क्यों नही कह सकते ? (मणिभद्र से) मणिभद्र, वे रत्न कैसे चोरी चले गये ? आज तुम्हारा विश्वास कहाँ है जिसमें दो युगों से पाटलिपुत्र की मर्यादा पोषित होती आ रही थी ? वह विश्वास कहाँ है जिसमें मैंने तुम्हें कौशल, कॉची और देवराष्ट्र की सम्पत्ति सौंपी थी ? वह विश्वास कहाँ है जिसमें लिच्छवि-वंश का गौरव निवास करता रहा है ? क्या उस विश्वास में विष प्रवेश कर गया ? बड़ी से बड़ी संपत्ति की रक्षा करने का अनुभव लेकर भी तुम दो हीरक-खंडों की रक्षा नही कर सके ? तुमने मेरे विश्वास में इन रत्नों की केवल दो चिन-गारियों से आग लगा दी ! तुम्हारे ये श्रम-विन्दु यदि रक्त-विन्दु बन जाते ...! [क्रूर दृष्टि]।

मणिभद्र—सम्राट्, अच्छा होता यदि मेरे प्रत्येक रोम से रक्त-विन्दु निकलकर आपके चरणों पर गिरकर कह सकते कि मैं निर्दोष हूँ। यदि रक्त-विन्दु वाणीरहित हैं तो आप उन्हे दूसरी भाषा दीजिए; किन्तु आपके विश्वास की पवित्रता खोकर मैं जीवन की रक्षा नही चाहता !

धवलकीर्ति—सम्राट्, आपका विश्वास खोकर कौन अपने जीवन की रक्षा करना चाहेगा ? किन्तु मणिभद्र की संरक्षा से रत्नों का चोरी जाना आश्चर्यजनक है।

मणिभद्र—यह आश्चर्य ही मुझे मृत्यु-पीड़ा का दंशन है। सम्राट् ने जिस विश्वास से मुझे अश्वमेध यज्ञ की संचित निधि सौंपी थी, उसी विश्वास की पवित्रता से मैंने उन रत्नों की संरक्षा

की। थी फिर भी प्रातःकाल वे राज्य-भांडागार में नहीं पाये गये।

समुद्रगुप्त—भांडागार के एक-मात्र अधिकारी तुम्ही हो मणि-भद्र, फिर तुम्हारी आज्ञा के बिना यहाँ कोई प्रवेश ही कैसे कर सकता है ?

धवलकीर्ति—यही आश्चर्य है, सम्राट् !

समुद्रगुप्त—आश्चर्य से अपराध नही छिपाया जा सकता, धवलकीर्ति ! अपराध की सहस्र जिह्वाएँ हैं जो अग्निशिखा की भाँति चंचल हो सकती हैं और (मणिभद्र से) तुम यह जानते हो मणिभद्र, कि भांडागार की रक्षा क्या है ! वह कृपाण के दर्पण में बन्द की हुई छाया है, कृपाण से मुक्त नहीं की जा सकती।

मणिभद्र—सम्राट्, मैं अपनी मृत्यु हाथ मे लेकर आया हूँ। रत्नों का खो जाना ही मेरे लिए सबसे बड़ा अपराध है। मुझे केवल अपने भाग्य-दोष का दुःख है ! यश और कीर्ति के साथ सम्राट् की सेवा पच्चीस वर्षो तक करने के अनन्तर इस भाँति अपयश से मेरे जीवन का अन्त हो ! मैं आपसे अपनी मृत्यु माँगने आया हूँ, सम्राट् !

समुद्रगुप्त—मुझसे अपनी मृत्यु माँगने की भी आवश्यकता है ?

मणिभद्र—सत्य है, सम्राट्, मै अभी तक अपने जीवन की समाप्ति कर चुका होता किन्तु आपके समक्ष अपनी आत्मा की पवित्रता के दो शब्द कहे बिना मुझे परितोष न होता। आप मेरे चरित्र के सम्बन्ध में अनेक बातें सोच सकते थे। अब मुझे संतोष है, मैने अपनी आत्मा की पुकार आप तक पहुँचा दी। अब मुझे आज्ञा दीजिए।

समुद्रगुप्त—मणिभद्र, अभी तुम नहीं जा सकोगे। तुम्हारे उत्तरदायित्व के साथ राज्य का भी उत्तरदायित्व है। यदि तुम्हारे अधिकार में सुरक्षित की गई अश्वमेध यज्ञ की सारी संपत्ति भी नष्ट हो जाती तो मुझे इतना दुःख न होता जितना इन दो रत्न-खंडों की चोरी से हुआ है। इन रत्नों के साथ जैसे मेरे हृदय की सारी शांति और पवित्रता भी खो गई है।

धवलकीर्ति—सम्राट्, उन रत्नों का सम्बन्ध भी पवित्रता से ही था। वे सिंहल की राजमहिषी के कंठहार के प्रधान रत्न थे जो भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा के लिए विश्वास से आपकी सेवा में भेजे गये थे।

समुद्रगुप्त—[आश्चर्य से] राजमहिषी के कंठहार से!

धवलकीर्ति—हाँ, सम्राट्, मैं ही राजदूत बनकर सिंहल से यह संपत्ति लाया हूँ। जब सिंहल के महासामन्त सिरिमेघवन्न ने एक लक्ष स्वर्णमुद्राएँ बोधगया मे एक विशाल मठ बनवाने और भगवान् बुद्धदेव की रत्नजटित स्वर्ण-प्रतिमा निर्माण कराने के निमित्त स्वर्णपात्रों मे सुसज्जित कीं तब राजमहिषी कुमारिला के नेत्रों मे श्रद्धा और प्रेम के आँसू छलक आये। उन्होंने उसी समय महासामन्त से प्रार्थना की कि उनके कण्ठहार के दो प्रधान हीरक-खण्ड श्रीमान् की सेवा मे इस अनुरोध के साथ भेज दिये जायँ कि ये हीरक-खण्ड भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा के अंगुष्ठ नखों के स्थान पर विजड़ित हों। सम्राट्, ये दोनों हीरक जैसे राजमहिषी कुमारिला की श्रद्धा और प्रेम के दो पवित्र अश्रु-बिन्दु थे जो आज खो गये! इन अश्रु-बिन्दुओं के खो जाने

से भगवान् के चरणों पर राजमहिषी की श्रद्धांजलि न चढ़ सकेगी। प्रतिमा अपूर्ण रहेगी, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—[आवेग से] तब सुनो, धवलकीर्ति, तुम सिंहल के राजदूत हो। मेरे महासामन्त की भेंट लानेवाले। तुम्हारे सामने मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि सम्राट् समुद्रगुप्त यदि उन रत्न-खंडों को नहीं खोज सका तो वह अपने राज्याधिकार का ध्यान छोड़कर भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा के सामने कठोर प्रायश्चित्त करेगा!

मणिभद्र—सम्राट्...

धवलकीर्ति—सम्राट्

समुद्रगुप्त—रुको राजदूत, यह प्रतिज्ञा समस्त साम्राज्य के भाग्य-निर्णय के साथ घोषित की जा रही है। यह बुद्धदेव के प्रति मेरे अपराध का दंड है। राजमहिषी के विश्वास की रक्षा न कर सकनेवाले का प्रायश्चित्त है। मेरी घोषणा प्रचारित हो और इसके साथ मेरे भांडागार के अधिकरण का कलंक भी अमर हो! [मणिभद्र की ओर दृष्टि] वह किस रूप में हो, इसका निर्णय अभी होगा।

मणिभद्र—सम्राट्, आपके इन शब्दों में मेरी मृत्यु भी मेरा उपहास कर रही है। जीवन का एक एक क्षण मुझे शूल की भाँति चुभ रहा है। मैं आपकी सेवा से जाने की आज्ञा चाहता हूँ जिससे मैं अपने इस कलंकित जीवन को अधिक कलंकित न कर सकूँ!

समुद्रगुप्त—ठहरो मणिभद्र, मेरी प्रतिज्ञा की पूर्ति में तुम्हारी

सहायता अपेक्षित होगी। तुम्हारी आत्म-हत्या से मेरा कलंक मिटेगा नहीं। मुझे कुछ बातों के जानने की आवश्यकता है।

धवलकीर्ति—सम्राट्, यदि एकांत की आवश्यकता हो तो मुझे आज्ञा दीजिए।

समुद्रगुप्त—नही धवलकीर्ति, ठहरो, तुम्हारे ही संरक्षण मे यह मठ और प्रतिमा निर्मित हुई है, तुम्हारी उपस्थिति भी आवश्यक है। मुझे विश्वास है, तुम अपने संकेतों से मेरे प्रयत्न में सहायता पहुँचाओगे। [मणिभद्र से] विश्वासपात्र मणिभद्र, वे रत्न-खंड सर्वप्रथम तुम्हारे अधिकार में कब आये ?

मणिभद्र—सम्राट्, आज से दस दिन पूर्व।

समुद्रगुप्त—फिर तुमने उन्हे कहाँ सुरक्षित किया ?

मणिभद्र—इसी कक्ष में, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—अंतरंग प्रकोष्ठ मे क्यों नही ?

मणिभद्र—मुझे धवलकीर्ति से यह सूचना मिली थी कि मठ और प्रतिमा का कार्य संपूर्ण हो गया है और अब वे शीघ्र ही शिल्पियों को दे दिये जावेंगे, अत. उन्हे अंतरंग प्रकोष्ठ में रखने की आवश्यकता नही है।

धवलकीर्ति—महासामन्त से मुझे यही आज्ञा मिली थी कि मैं शीघ्रातिशीघ्र मठ और प्रतिमा के निर्माण और उनकी व्यवस्था की चेष्टा करूँ। सिंहल द्वीप के भिक्षुओं को बोधगया में बड़ा कष्ट होता है, इसलिए उनकी सुविधा के लिए शीघ्रातिशीघ्र मठ का निर्माण होना था। सम्राट्, आपकी प्रशंसा नहीं की जा सकती कि आपने ब्राह्मण धर्म में विश्वास रखते हुए भी बोध-

गया में भिक्षुओं के लिए मठ बनवाने की आज्ञा दे दी।

समुद्रगुप्त—यह मेरी प्रशंसा का अवसर नहीं है, धवलकीर्ति ! तो मठ और प्रतिमा की शीघ्र व्यवस्था करने की प्रेरणा से ही तुमने मणिभद्र को अंतरंग प्रकोष्ठ में रत्न रखने से रोक दिया ?

धवलकीर्ति—हाँ, सम्राट्, शिल्पी प्रतिमा-निर्माण का कार्य समाप्त कर चुके थे। दो एक दिन में ही भगवान् बुद्धदेव के चरणों मे वे रत्न विजड़ित कर दिये जाते।

समुद्रगुप्त—दो-एक दिन का प्रश्न नही था। प्रश्न मणिभद्र के उत्तरदायित्व और कोष-संरक्षा का था। फिर वे रत्न शिल्पियों को दूसरे दिन दे दिये गये ?

मणिभद्र—नही सम्राट्, वे रत्न शिल्पियों को नहीं दिये जा सके। शिल्पियों को केवल पूर्व निश्चय के अनुसार चार सहस्र स्वर्णमुद्राएँ दी गई थीं।

समुद्रगुप्त—क्यों ?

मणिभद्र—उनका पारिश्रमिक चार सहस्र मुद्राएँ निश्चित किया गया था।

समुद्रगुप्त—तो कार्य-समाप्ति के पूर्व ही उन्हे पारिश्रमिक क्यों दिया गया ?

मणिभद्र—धवलकीर्ति का आदेश था।

समुद्रगुप्त—(धवलकीर्ति से) क्यों धवलकीर्ति, तुम्हारा यह निर्देश सत्य है ?

धवलकीर्ति—सत्य है सम्राट्, मे उन शिल्पियों के कार्य से बहुत

प्रसन्न था। वे अत्यन्त सात्विक प्रवृत्तिवाले हैं, मुझे विश्वास था कि वे पुरस्कार पाने के उपरान्त भी रत्न जड़ने का कार्य पूर्ण करेंगे।

समुद्रगुप्त—ऐसे कितने शिल्पी है ?

धवलकीर्ति—केवल दो है, सम्राट् ?

समुद्रगुप्त—उनके नाम ?

धवलकीर्ति—घटोत्कच और वीरबाहु।

समुद्रगुप्त—इस समय वे कहाँ हैं ?

धवलकीर्ति—वे अपने आवासस्थान पर ही होंगे।

कोदण्ड—नही सम्राट्, वे इस समय बंधन में हैं। जब से रत्नों की चोरी का समाचार प्रसिद्ध हुआ है तब से मैंने उन शिल्पियों को बन्दी कर रक्खा है। मै उन्हे मणिभद्र के साथ ही ले आया था। वे बाहर हैं। यदि आज्ञा हो तो उन्हे सम्राट् की सेवा में उपस्थित करूँ।

समुद्रगुप्त—मैं तुम्हारी सतर्कता से प्रसन्न हूँ महाबलाध्यक्ष, यद्यपि मै जानता हूँ कि शिल्पी निर्दोष है फिर भी मैं उनसे विचार-विनिमय करना चाहूँगा। उन्हे मेरे समक्ष शीघ्र ही उपस्थित करो।

कोदण्ड—[सिर झुकाकर] जो आज्ञा। [प्रस्थान]

समुद्रगुप्त—तो धवलकीर्ति, तुम शिल्पियों के कार्य से बहुत प्रसन्न हो ?

धवलकीर्ति—हा, सम्राट्, उन्होंने केवल एक मास मे भगवान् की प्रतिमा का निर्माण कर दिया।

समुद्रगुप्त—उनके निर्माण-कार्य की विशेषता ?

धवलकीर्ति—सम्राट्, भगवान् की प्रतिमा इतनी सजीव ज्ञात होती है मानो वे संघ को उपदेश देने के अनन्तर अभी ही मौन हुए हैं। उनकी प्रतिमा का ओज अन्य धर्मावलम्बियों को भी बौद्धधर्म की ओर आकर्षित करने में समर्थ है।

समुद्रगुप्त—और बोधगया का मठ पूर्ण हो गया ?

धवलकीर्ति—हाँ सम्राट्, मठ भी पूर्ण हो गया। एक सहस्र भिक्षुओं के निवास के योग्य उसमें प्रबन्ध है और उसमें कला-कुशलता चरम सीमा की उपस्थित की गई है।

समुद्रगुप्त—कला-कुशलता की चरम सीमा से क्या तात्पय है ?

धवलकीर्ति—सम्राट्, बुद्धदेव के जीवन के समस्त चित्र दीवालों पर अंकित हैं। महामाया का स्वप्न, गौतम का जन्म, शाक्य नरेश का सुखोत्सव, वैराग्य उत्पन्न कराने वाले रोग, जरा और मृत्यु के चित्र, भगवान् गौतम का महाभिनिष्क्रमण, फिर उनकी तपस्या एवं उनके बोधिसत्व का उदय ! संघ को उपदेश देते हुए उनके चित्रों में महान् ऐश्वर्य और विभूति है।

समुद्रगुप्त—और भिक्षुओं की सुविधा का क्या प्रबन्ध है ?

धवलकीर्ति—सम्राट्, प्रव्रज्या की समस्त सामग्री प्रत्येक कक्ष में संचित है। चीवर आदि की व्यवस्था देश के अन्य मठों से इसमें विशेष रहेगी। संक्षेप में, अब किसी भी भिक्षु को लौकिक एवं पारलौकिक दृष्टि से किसी प्रकार की असुविधा नहीं हो सकती।

समुद्रगुप्त—तब तो मठ के समस्त शिल्पियों को राज्य की ओर से भी पुरस्कार प्रदान किया जावेगा, घटोत्कच और वीर-बाहु को तो विशेष रूप से। धवलकीर्ति, पाटलिपुत्र में इन दोनों शिल्पियों को आवास कहाँ दिया गया था?

धवलकीर्ति—जिस अतिथिशाला में मैं हूँ उसी के समीप राज्यकुटीर में।

समुद्रगुप्त—तुमने रत्न-खंडों के सम्बन्ध में उनसे कभी चर्चा की थी?

धवलकीर्ति—भगवान् बुद्ध की प्रतिमा के समाप्त होने के कुछ पहले ही मैंने भगवान के चरण-अंगुष्ठ में स्थान छोड़ने की आज्ञा देते समय उनसे उन रत्नों की चर्चा की थी किन्तु उनसे अधिक वार्तालाप कर अपना समय नष्ट करना मैंने कभी उचित नहीं समझा। आवश्यक आदेशों के अतिरिक्त मैंने उनसे कभी कोई बात ही नही की।

समुद्रगुप्त—तुम सिंहल के प्रमुख कलाविद् हो। फिर कला-कारों से वार्तालाप करना समय नष्ट करना नहीं है, धवलकीर्ति!

धवलकीर्ति—सम्राट्, आप जैसे उत्कृष्ट कलाकार से वार्तालाप करना सौभाग्य की बात है किन्तु सभी कलाकार मेरे समय के अधिकारी नहीं हैं।

समुद्रगुप्त—तुम भूल करते हो धवलकीर्ति, प्रत्येक कलाकार मे कुछ न कुछ मौलिकता अवश्य होती है। कलाविद् को चाहिये कि कलाकार की उस मौलिकता को वह रत्नों की भांति संग्रह करे।

[महाबलाध्यक्ष कोदण्ड का प्रवेश]

कोदण्ड—[प्रणाम कर] सम्राट्, दोनों शिल्पी यहाँ उपस्थित हैं। आज्ञा हो तो उन्हें भीतर लाऊँ।

समुद्रगुप्त—यहाँ उपस्थित करो।

[महाबलाध्यक्ष का प्रस्थान]

समुद्रगुप्त—धवलकीर्ति, ये दोनों शिल्पी क्या सिंहल के निवासी हैं?

धवलकीर्ति—हाँ, सम्राट्! इनका आदिस्थान तो सिंहल ही है किन्तु अपनी कलाप्रियता के कारण ये समस्त देश का पर्यटन करते हैं।

[महाबलाध्यक्ष कोदण्ड के साथ घटोत्कच और वीरबाहु का प्रवेश। वे प्रणाम करते हैं।]

कोदण्ड—[संकेत करते हुए] सम्राट्, यह शिल्पी घटोत्कच है और यह वीरबाहु।

समुद्रगुप्त—घटोत्कच और वीरबाहु, सिंहल के शिल्पी, किन्तु समस्त देश के अभिमान, राज्य में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करने-वाले, प्रस्तर में प्राण फूँकनेवाले! तुम लोगों से राज्य की शोभा है। इसीलिए ये किसी भी दण्ड-विधान से दण्डित नहीं हो सकते। क्यों शिल्पी! सौन्दर्य किसे कहते हैं?

घटोत्कच—सम्राट्, विषम वस्तु में समता लाना ही सौन्दर्य है।

समुद्रगुप्त—और तुम क्या समझते हो, वीरबाहु?

वीरबाहु—हृदय में अनुराग की सृष्टि का साधन ही सुन्दरता है।

समुद्रगुप्त—यदि चोरी के प्रति हृदय मे अनुराग है तो वह भी सुन्दरता है, शिल्पी ?

वीरबाहु—सम्राट्, यदि चोरी सात्विक भावों से होती है तो वह सुन्दरता कही जा सकती है।

समुद्रगुप्त—सात्विक भावों से कौन-सी चोरी होती है ?

वीरबाहु—कला, कविता और नारी-हृदय की सम्राट्, जिसमें निरीहता और पवित्रता है।

समुद्रगुप्त—और रत्न-खंडों की चोरी, शिल्पी ?

वीरबाहु—वह सुन्दरता नहीं है सम्राट्, रत्न-खंडों की चोरी में तृष्णा है, जिसका रूप दुःख है और फल पाप है।

समुद्रगुप्त—तुम्हें ज्ञात है कि सिंहल से भेजे गये रत्न-खंड चोरी चले गये ?

वीरबाहु—सम्राट्, मुझे इसकी सूचना महाबलाध्यक्ष से ज्ञात हुई। यही कारण है कि प्रातःकाल से हम लोगों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध है। हमारी रक्षा कीजिए, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—तुम लोगों की पूर्ण रक्षा होगी शिल्पी, पहले मेरे प्रश्नों के उत्तर दो।

वीरबाहु—प्रश्न कीजिए, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—तुम्हें दो सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ प्राप्त हो चुकी हैं ?

वीरबाहु—हाँ, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—और घटोत्कच, तुम भी पुरस्कृत हो चुके हो ?

घटोत्कच—हाँ, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—तुम लोग कार्य-समाप्ति के पूर्व ही पुरस्कृत क्यों हुए ?

घटोत्कच—धवलकीर्ति की प्रसन्नता ही इसका कारण है।

वीरबाहु—या हम लोगों की कार्य-कुशलता।

समुद्रगुप्त—क्या इस बात की संभावना हो सकती है कि उन दो सहस्र मुद्राओं में वे रत्न-खंड भी चले गये हों ?

घटोत्कच—सम्राट्, यदि रत्न-खंड उन स्वर्ण मुद्राओं में मिलते तो मैं मणिभद्र को इस बात की सूचना अवश्य देता।

वीरबाहु—सम्राट्, मेरा निवेदन तो यह है कि यदि मुझे दो सहस्र मुद्राओं से एक मुद्रा भी अधिक मिलती तो मैं वह मणिभद्र के पास भेज देता।

समुद्रगुप्त—इस बात का प्रमाण ?

घटोत्कच—सम्राट्, हृदय की निर्मलता का प्रमाण केवल निर्मल हृदय ही पा सकता है।

समुद्रगुप्त—क्यों शिल्पी, क्या तुम्हें मेरे हृदय की निर्मलता में विश्वास नहीं है ?

घटोत्कच—सम्राट्, हमें पूर्ण विश्वास है, इसीलिए आपसे निवेदन करना चाहते हैं। दूसरी बात यह है कि आज तक मैंने भगवान् बुद्धदेव की अनेक प्रतिमाओं का निर्माण किया है। भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा तथा उनके जीवन के अनेक चित्रों को अंकित करते करते मेरे हृदय में—मेरे प्राणों में—भी तथागत की प्रतिमा का निर्माण हो गया है। उनके आदर्श मेरी प्रत्येक श्वास में निवास करते हैं। उनके 'आर्य-सत्य' मेरी प्रत्येक यति

और गति में संचरित हो गये हैं। ऐसी स्थिति मे रत्न-खंडों की प्रभा मेरे चरित्र को कलंकित नहीं कर सकती।

समुद्रगुप्त—वीरबाहु, तुम्हारा क्या कथन है ?

वीरबाहु—सम्राट्, जो रत्न-खंड भगवान बुद्धदेव के चरणों में स्थान पाने के लिए भेजे गये थे वे रत्न-खंड निर्जीव हैं और हम लोगों के हृदय सजीव। निर्जीवों में इतनी शक्ति नही है कि वे सजीवों की प्रकृति में बाधा डाल सके। यदि आवश्यकता होगी तो रत्न-खंडों के स्थान पर हम लोग अपने हृदय भी विजड़ित करने के लिए प्रस्तुत होंगे।

समुद्रगुप्त—दोनों ही उच्च कोटि के कलाकार तथा शिल्पी हैं। घटोत्कच, बुद्धदेव की प्रतिमा का निर्माण हो गया ?

घटोत्कच—सम्राट्, पिछले सप्ताह ही पूर्ण हो गया।

समुद्रगुप्त—फिर रत्न-खंडों को प्राप्त करने में इतना विलंब क्यों हुआ ?

घटोत्कच—सम्राट्, मैंने धवलकीर्ति से रत्न-खंडों के शीघ्र पाने की याचना की थी, किन्तु उन्हे अवकाश नहीं था।

समुद्रगुप्त—धवलकीर्ति को अवकाश नहीं था ? क्यों धवलकीर्ति ?

धवलकीर्ति—सम्राट्, मै पाटलिपुत्र का उपासक हूँ। उसके सौन्दर्य को देखने की इच्छा अनेक वर्षों से मेरे हृदय मे थी। मैं यहाँ आकर उसे अधिक से अधिक देखने के अवसर प्राप्त करना चाहता था, अतः मैं प्रायः आपके नगर के उद्यानों और सरोवरों ही मे अपने जीवन की अनुभूतियां प्राप्त करता था,

किन्तु, फिर भी शिल्पियों की आवश्यकता का ध्यान मुझे सदैव रहा करता था।

घटोत्कच—किन्तु गत संध्या को जब मैंने आपकी सेवा में आने की चेष्टा की तो मुझे ज्ञात हुआ कि पाटलिपुत्र में आकर नृत्य-दर्शन की ओर आपकी विशेष अभिरुचि हो गई है, आप नृत्यों की विशेष भाव-भंगिमाओं के चित्र-संग्रह में इतने व्यस्त रहते हैं कि आपको मेरी प्रार्थनाओं के सुनने का अवकाश नहीं था।

धवलकीर्ति—घटोत्कच, मेरी रुचि की समालोचना करने का तुम्हे कोई अधिकार नहीं है।

समुद्रगुप्त—शांत, धवलकीर्ति, मुझे यह सुनकर प्रसन्नता है कि तुम्हे नृत्य-कला विशेष प्रिय है। तुमने पाटलिपुत्र की राजनर्त्तकी का नृत्य, सम्भव है, अभी तक न देखा हो। वह भी मैं तुम्हें दिखलाने का प्रयत्न करूँगा।

धवलकीर्ति—सम्राट्, आपकी विशेष कृपा है।

समुद्रगुप्त—मैं उसे अभी दिखलाने का प्रबन्ध करूँगा। मेरे नृत्य देखने का समय भी हो गया। [महाबलाध्यक्ष से] कोदण्ड, तुम इन शिल्पियों को न्याय-सभा की उत्तरशाला मे स्थान दो। [शिल्पियों से] शिल्पी घटोत्कच और वीरबाहु, तुम्हारे उत्तरों से मैं प्रसन्न हुआ। राजकीय नियमों के आचरण में यदि शिल्प-साधकों को कुछ असुविधा हो तो वह उपेक्षणीय है। तुम ध्यान मत देना, शिल्पी।

वीरबाहु—सम्राट् की जो आज्ञा।

घटोत्कच—मुझे कोई असुविधा नहीं है, सम्राट।

समुद्रगुप्त—तो तुम लोग जाओ। कोदण्ड, राज्य-शिल्पियों को किसी प्रकार की असुविधा नहीं होनी चाहिए।

कोदण्ड—जो आज्ञा, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—और सुनो कोदण्ड, राजनर्त्तकी रत्नप्रभा को इसी स्थान पर आने की सूचना दो। आज मैं धवलकीर्ति के साथ इसी स्थान पर राजनर्त्तकी का नृत्य देखूँगा।

[कोदण्ड और शिल्पी जाने के लिये उद्यत होते हैं।]

समुद्रगुप्त—और सुनो, प्रियदर्शिका से कहना कि वह मेरी वीणा ले आये। आज मैं फिर वीणा बजाना चाहता हूँ। केदारा के स्वरों का सन्धान हो।

कोदण्ड—जो आज्ञा। [शिल्पियों के साथ प्रस्थान]

समुद्रगुप्त—[मणिभद्र से] मणिभद्र, दुर्भाग्य से यदि यह तुम्हारी अंतिम रात्रि हो तो तुम्हें अपने विश्वासी सम्राट् की वीणा सुनने का अवसर क्यों न मिले? तुम भी सुनो।

मणिभद्र—यह मेरा सौभाग्य है, सम्राट्!

धवलकीर्ति—सम्राट्, फिर मुझे आज्ञा दीजिये।

समुद्रगुप्त—क्यों धवलकीर्ति, क्या तुम हमारी वीणा नहीं सुनोगे और राजनर्त्तकी का नृत्य भी नहीं देखोगे? तुम तो बड़े भारी कलाकार हो।

धवलकीर्ति—सम्राट्, प्रशंसा के लिये धन्यवाद। मैं सोचता हूँ कि कला की उपासना के लिए पवित्र मन की आवश्यकता है। मेरा मन इस घटना से बहुत अव्यवस्थित हो गया है।

समुद्रगुप्त—मैं अपनी वीणा से तुम्हारा हृदय व्यवस्थित कर

दूँगा। फिर आज इस वादन और नृत्य को तुम मणिभद्र की विजय-विदा समझो। जिस मणिभद्र ने पच्चीस वर्षों तक राज्य की सेवा की है उसके अंतिम क्षणों को मुझे अधिक से अधिक सुखमय बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस मंगल वेला के समय तुम्हें भी उपस्थित रहना चाहिए। पाटलिपुत्र के न्यायाचरण में सिंहल का भी प्रतिनिधित्व हो।

धवलकीर्ति—सम्राट्, आपका कथन सत्य है, किन्तु मैंने समझा, सम्भवत: आप एकान्त चाहते हैं।

समुद्रगुप्त—नहीं धवलकीर्ति, ऐसे समारोहों मे एकान्त टूटे हुये तार की तरह कष्टदायक है।

धवलकीर्ति—[सँभल कर] और सम्राट्, आपकी वीणा में वह स्वर है जो टूटे हुये हृदयों को भी जोड़ देता है। आप संगीत-कला में नारद और तुम्बुरु को भी लज्जित करते हैं। आपकी संगीत-प्रियता इसी बात से स्पष्ट है कि आपकी मुद्राओं पर वीणा बजाती हुई राजमूर्ति अंकित है। मैंने सुना है कि आपने अपने अश्वमेध यज्ञ के उपरांत दो मास तक संगीतोत्सव किया था।

समुद्रगुप्त—यह सरस्वती की साधना करने की सबसे सरल युक्ति है, अच्छा धवलकीर्ति, तुम भी तो संगीत जानते हो ?

धवलकीर्ति—सम्राट्, आपकी साधना की समानता कौन कर सकता है, किन्तु इस कला की ओर मेरी अभिरुचि अवश्य है।

समुद्रगुप्त—और नृत्य-कला भी तो जानते होगे ?

धवलकीर्ति—सम्राट्, नृत्य-कला का मैंने अध्ययन मात्र किया

है, उसकी विवेचना कर सकता हूँ, किन्तु स्वयं नृत्य नहीं कर सकता।

समुद्रगुप्त—नृत्य-कला देखने से प्रेम है ?

धवलकीर्ति—यह सिंहल के वातावरण का प्रभाव है।

समुद्रगुप्त—मुझे प्रसन्नता है कि सिंहल का वातावरण मेरी अभिरुचि के अनुकूल है। फिर तो राजनर्त्तकी के नृत्य से तुम्हें विशेष प्रसन्नता होगी।

धवलकीर्ति—यह सम्राट् का अनुग्रह है।

समुद्रगुप्त—और मेरी वीणा के स्वर भी आज मुखरित होंगे।

धवलकीर्ति—आपकी वीणा तो स्वर्गीय-संगीत है, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—अधिक नहीं, धवलकीर्ति! किन्तु संगीत ईश्वरीय विभूति की वह किरण है जिससे मनुष्य देवता हो जाता है। हृदय का समस्त कालुष्य वीणा की एक झंकार से ही दूर हो जाता है।

[प्रियदर्शिका का वीणा लिये हुए प्रवेश। वह प्रणाम करती है।]

समुद्रगुप्त—आओ: प्रियदर्शिके, आज मैं फिर वीणा बजाऊँगा।

प्रियदर्शिका—[वीणा आगे प्रस्तुत कर] प्रस्तुत है, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—[वीणा हाथ में लेते हुये] केदारा के स्वर में वीणा का संधान है ?

प्रियदर्शिका—हाँ, सम्राट्, इसी राग की आज्ञा प्राप्त हुई थी।

समुद्रगुप्त—राजनर्त्तकी रत्नप्रभा का शृंगार पूर्ण हुआ ?

प्रियदर्शिका—वे तैयार हैं, आपकी सेवा में उपस्थित होने की आज्ञा चाहती हैं।

समुद्रगुप्त—उन्हें नृत्य के साथ आने दो, केदारा के स्वरों में।

प्रियदर्शिका—[सिर झुकाकर] जो आज्ञा ! [प्रस्थान]

समुद्रगुप्त—[वीणा के तारों पर अँगुलियाँ फेरते हुये] सुनो धवलकीर्ति, केदारा के स्वर में वह भावना है कि करुणा की समस्त मूर्छनाएँ एक बार ही हृदय मे जाग्रत हो जाती हैं। ऐसा ज्ञात होता है जैसे सारा संसार तरल होकर किसी की आँखों से आँसू बनकर निकलना चाहता है। तारिकाएँ आकाश की गोद मे सिमिट कर पतली किरणों मे प्रार्थना करने लगती है। कलिकाएँ सुगंधि की वेदना से फूल बन जाती हैं और ओस-बिन्दु मे डूबकर पृथ्वी के चरणों में आत्मसमर्पण करना चाहती हैं। अच्छा, तो सुनो वह रागिनी!

[समुद्रगुप्त वीणा पर केदारा का स्वर छेड़ते हैं। धीरे धीरे बजाते हुए वे तन्मय हो जाते हैं। उसी क्षण रत्नप्रभा का नृत्य करते हुए प्रवेश। रत्न-प्रभा के अग अंग से रागिनी की गति व्यक्त हो रही है। वह अट्ठारह वर्षीया सुन्दरी है। सौन्दर्य की रेखाओं ही में उसके शरीर की आकृति है। केश-कलाप मे पुष्पों की मालायें, शरीर मे अंगराग और चदन की चित्र रेखाएँ हैं। मस्तक पर केसर का पुष्पाकन। बीच मे कुंकुम का बिंदु। नेत्र-कोरों में अंजन की रेखा। चिबुक पर कस्तूरी बिंदु। कठ मे मुक्ताहार। हृदय पर रत्न-राशि। कटि मे दोलायमाना किंकिणी और पैरों मे नूपुर। वह केदारा राग की साकार प्रतिमा बनकर नृत्य कर रही है। साथ ही सम्राट् समुद्रगुप्त की

वीणा से निकलती हुई रागिनी राजनर्त्तकी के पद-विन्यास में माधुर्य भर रही है। कुछ समय नृत्य करने के उपरान्त 'सम' पर राजनर्त्तकी हाथ जोड़कर भाव-मुद्रा में सम्राट् के समक्ष तिरछी होकर खड़ी हो जाती है।]

समुद्रगुप्त—[प्रसन्न होकर] मेरे राज्य की उर्वशी, तुम बहुत सुन्दर नृत्य करती हो! ......यह पुरस्कार! [गले से मोती की माला उतारकर देते हैं।]

रत्नप्रभा—[हाथ जोड़कर] सम्राट्, मैं इसके योग्य नहीं हूँ। मुझसे आज दो बहुत बड़े अपराध हुए हैं।

समुद्रगुप्त—[भ्रांत होकर] तुमसे? तुमसे कभी कोई अपराध नहीं हुआ। कौन-सा अपराध?

रत्नप्रभा—पहला अपराध तो यह है कि मैं आपकी मधुर वीणा के अनुकूल नृत्य नहीं कर सकी। आपके संगीत की मर्यादा कभी भंग नहीं हुई। आज मेरे नृत्य के कारण आपका संगीत कलुषित हो गया, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—नहीं रत्नप्रभा, अपने नृत्य से तुमने मेरे स्वरों में सहायता ही पहुँचाई है, हानि नहीं!

रत्नप्रभा—सम्राट्, मैं अनुगृहीत हूँ। आपने कभी मेरे नृत्य के साथ वीणा नहीं बजाई। आज आपने मेरे नृत्य को अनंत गौरव प्रदान किया है।

समुद्रगुप्त—यह कला की साधना में आवश्यक है! अच्छा, दूसरा अपराध कौन-सा है?

रत्नप्रभा—सम्राट्, आज आपने इतनी मधुर वीणा बजाई कि संगीत की इस दिव्य अनुभूति में मेरे हृदय का समस्त दोष

दूर हो गया और आज मैं अपना अपराध स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हूँ।

समुद्रगुप्त—मैं उत्सुक हूँ सुनने के लिए, रत्नप्रभा ?

रत्नप्रभा—सम्राट्, राजनर्त्तकी होकर मैंने एक अन्य व्यक्ति से भेंट स्वीकार की।

समुद्रगुप्त—[उत्सुकता से] किससे ?

रत्नप्रभा—सिंहल के राजदूत श्री धवलकीर्ति से।

समुद्रगुप्त—तो इसमें कोई हानि नहीं। वे तो हमारे राज्य के अतिथि हैं। उनसे भेंट स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है।

रत्नप्रभा—फिर भी सम्राट्, अन्य राज्य के व्यक्ति की भेंट स्वीकार करने की आज्ञा मेरी आत्मा मुझे नहीं देती। मैं इनकी यह भेंट आप ही के चरणों में समर्पित करती हूँ। और वह यह है। [सम्राट् के चरणों में दो हीरक-खण्ड समर्पित करती है।]

मणिभद्र—[हीरक-खण्डों को देखकर प्रसन्नता से] वे हीरक-खण्ड यही हैं, यही हैं। [उद्वेग से] महाराज प्रायश्चित्त नहीं करेंगे, महाराज प्रायश्चित्त नहीं करेंगे।

समुद्रगुप्त—[रत्नों को हाथ में लेकर] ठहरो, ठहरो मणिभद्र, प्रसन्नता से पागल मत बनो। [धवलकीर्ति से] राजदूत धवलकीर्ति, क्या यह सत्य है ?

धवलकीर्ति—[लज्जा से नीचे सिर करके मौन है।]

समुद्रगुप्त—बोलो राजदूत! क्या तुम इसी आचरण से राज-दूतत्व का निर्वाह करते हो ?

धवलकीर्ति—सम्राट्, मैं लज्जित हूँ।

समुद्रगुप्त—राजदूत, मुझे तुम पर पहले ही कुछ शंका हो रही थी। मणिभद्र की आत्महत्या के विचार पर तुम मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे, राजमहिषी कुमारिला के कंठहार के रत्नों की पवित्रता का संदेश जतलाकर तुम राज्याधिकार को लांछित करना चाहते थे, तुम इसीलिए शिल्पियों पर प्रसन्न हुए कि वे रत्न-खंडों के लिए अधिक जिज्ञासा न करें, तुम रत्नप्रभा के नृत्य के पूर्व ही चले जाना चाहते थे जिससे तुम रत्नप्रभा के समक्ष दोषी होने से बच सको। मैंने इसीलिए आज वीणा बजाई जिससे संगीत के वातावरण में अपराधी विह्वल हो जाय और अपना रहस्य खोल दे। नहीं तो मर्यादा के संकट में संगीत की क्या आवश्यकता? तुम मेरे ही राज्य में आकर विष का बीज बोना चाहते हो? बोलो तुम्हें क्या दण्ड दिया जाय?

धवलकीर्ति—सम्राट्, जो चाहें मुझे दण्ड दें।

समुद्रगुप्त—तुम जानते हो धवलकीर्ति, राजदूत दण्डित नहीं होता इसीलिए तुम निर्भीकता से कहते हो, सम्राट् जो चाहें मुझे दण्ड दें। किन्तु तुम यह ठीक तरह से समझ लो कि समुद्रगुप्त पराक्रमांक न्याय को देवता मानकर पूजता है और अन्याय को दैत्य समझकर उसका विनाश करता है। मैं अपने महासामंत सिरिमेघवर्ण से तुम्हारे दण्ड की व्यवस्था कराऊँगा। तुमने राजमहिषी कुमारिला के रत्न-खंडों को स्वयं कलुषित किया है, मणिभद्र के प्राण संकट में डाले हैं, राजनर्तकी को मर्यादा के

पथ से विचलित करने का प्रयत्न किया है। दण्ड तुम्हे पाकर सुखी होगा।

धवलकीर्ति—सम्राट्, मुझे अधिक लज्जित न कीजिए। मैं स्वयं परिताप की अग्नि में जल रहा हूँ।

समुद्रगुप्त—उस परिताप की अग्नि के प्रकाश में क्या यह स्पष्ट कर सकते हो कि ये रत्न-खंड तुमने मणिभद्र की संरक्षा से किस प्रकार मुक्त किये ?

धवलकीर्ति—अपने अंतिम समय में मैं असत्य भाषण नहीं करूँगा, सम्राट्। आपको अभी ज्ञात हुआ कि शिल्पियों को कार्य-समाप्ति के पूर्व ही उन्हें मैंने प्रसन्न हो निश्चित पारिश्रमिक दे दिया और वह इसलिए कि जब मेरे सामने मणिभद्र उन्हें देने के लिए स्वर्ण-मुद्राएँ गिने तो मैं उनका ध्यान सिंहल की मुद्राओं की विशेषता की ओर बार बार आकर्षित करूँ। ऐसे ही किसी अवसर पर मैं वे रत्न-खंड दृष्टि बचाकर मंजूषा में से निकाल लूँ। अपने कार्य की सरलता के कारण ही मैंने उन रत्नों को भांडागार के भीतरी प्रकोष्ठ में न रखने का परामर्श मणिभद्र को दिया।

समुद्रगुप्त—फिर रत्नप्रभा को तुमने किस विचार से ये रत्न भेंट किये ?

धवलकीर्ति—मैंने उससे नृत्य करने की प्रार्थना की किन्तु उसने कहा कि मैं सम्राट् की आज्ञा के बिना किसी दूसरे के समक्ष नृत्य नहीं करूँगी। मैंने बार बार प्रार्थना की और उसको सुन्द-

रता के अनुरूप ही हीरक-खण्डों की भेंट की। उसने मौन होकर वे रत्न-खंड ले लिये। न जाने क्या सोचकर और क्या समझकर!

समुद्रगुप्त—फिर रत्नप्रभा ने तुम्हारे सामने नृत्य किया?

धवलकीर्ति—नहीं सम्राट्, उसने फिर भी अस्वीकार किया।

समुद्रगुप्त—रत्नप्रभा, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। अब स्वीकार करो अपना यह पुरस्कार।

[हाथ में रखी हुई माला देते हैं।]

रत्नप्रभा—[माला लेकर सिर झुकाकर] सम्राट्, आपकी प्रसन्नता में ही मेरे पुरस्कृत होने की सार्थकता है।

समुद्रगुप्त—मेरे साम्राज्य मे इस प्रकार का अन्याय नहीं हो सकता, इसी बात से मैं सुखी हूँ।

धवलकीर्ति—सम्राट्, मुझे और किसी प्रश्न का उत्तर देना है?

समुद्रगुप्त—नहीं, अब केवल महासामन्त को सूचना देनी है कि राजमहिषी के रत्न-खंडों को भगवान् बुद्धदेव की श्रद्धा में समर्पित न कर राजनर्त्तकी को भेंट करने के अपराध में जो दण्ड की व्यवस्था हो, उसका प्रबन्ध करें।

धवलकीर्ति—सम्राट, आप उन्हें सूचना देने का कष्ट न उठायें। मैंने मणिभद्र के साथ विश्वासघात किया, राजमहिषी के हीरक-खण्डों को कलुषित किया, राजनर्त्तकी को मर्यादा से विचलित करने की चेष्टा की, और सम्राट्, आपके प्रायश्चित्त करने का अवसर उपस्थित किया, इन सबका सम्मिलित दण्ड बहुत भयानक

है। यदि मुझे सौ बार प्राणदण्ड दिया जाय, तब भी वह पर्याप्त नही है। मैं अपनी ओर से सबसे बड़ा दण्ड स्वयं अपने को दे रहा हूँ और वह है आत्महत्या! [कटार अपने हृदय में मार लेता है और सम्राट् के समक्ष ही गिर पड़ता है।]

[मणिभद्र और राजनर्त्तकी के मुख से आश्चर्य और दुःख की ध्वनि]

समुद्रगुप्त—स्वयं दण्डित होने से अब तुम अपराधों से मुक्त हुए धवलकीर्ति, तुमने अपने नाम को धवल ही रहने दिया!

धवलकीर्ति—[अस्फुट स्वरों में] मैं राजमहिषी को अपना मुख....नहीं दिखला सकता था, सम्राट्, मेरी कला की उपासना....असत्य है! मुझे शान्ति..से मरने...दें! आपका ....संगीत........।

समुद्रगुप्त—राजनर्त्तकी, तुम नृत्य करो, सच्चे अपराधी की मृत्यु को मंगलमय बनाओ। मणिभद्र के स्थान पर धवलकीर्ति को विजय-विदा दो। मैं भी वीणा-वादन करूँगा। शिल्पियों को मुक्त कर यहाँ आने का निमन्त्रण दो। आज धवलकीर्ति मृत्यु के समय मेरा मंगलवाद्य सुने। राजनर्त्तकी, नृत्य शीघ्र प्रारम्भ हो।

[राजनर्त्तकी नृत्य करने के लिए प्रस्तुत होती है और सम्राट् समुद्रगुप्त अपने हाथ में वीणा लेते हैं।]

[परदा गिरता है।]

स्त्री का हृदय

[एक मनोवैज्ञानिक चित्रण]

—लेखक—

प्रो० उदयशंकर भट्ट

प्रो० उदयशंकर भट्ट

परिचय

हिन्दी के प्रमुख एकांकी नाटककारों में श्री उदयशंकर जी भट्ट का भी विशेष स्थान है। इनके एकांकी नाटकों के दो संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रो० उदयशंकर जी भट्ट के विषय में विभिन्न विद्वानों के मत:—

प्रो० अमरनारायण ने बताया है कि इनके नाटक हिन्दी साहित्य में एक नवीन शैली के परिचायक हैं जिसका अभाव हमारे यहाँ अवश्य था। दुःखपूर्ण नाटक (ट्रैजेडी) लिखने की प्रथा आपने ही चलाई। 'प्रसाद' जी के नाटकों में दुःखवाद खूब देखने को मिलता है, पर इनका तो दृष्टिकोण ही ट्रैजिक है।.. 'दस हज़ार' मे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ भट्ट जी आन्तरिक द्वन्द्व को सफलता-पूर्वक विकसित करने मे सफल हुए हैं।

श्री डा० रामकुमार वर्मा का कथन है—"भट्ट जी की लेखनी में मनोभाव सरलता से स्पष्ट होते जाते हैं। पात्रों के अनुरूप भाषा की सृष्टि में तो वे सिद्धहस्त हैं। घटनाओं में कौतूहल चाहे न हो किन्तु स्वाभाविकता के साथ जीवन के चित्रों को स्पष्ट करने में भट्ट जी ने विशेष सफलता प्राप्त की है। उनकी दृष्टि व्यक्तिवाद तक ही सीमित नहीं है वरन्, वे मनो-

वैज्ञानिक ढंग से समाज के भयानक हिंसात्मक स्वरूप को अपनी शक्तिशालिनी लेखनी से कोमल बनाकर धुने हुये कपास का निर्मल और भव्य स्वरूप दे देते हैं।"

इनका प्रस्तुत नाटक "स्त्री का हृदय" स्त्री के वास्तविक चरित्र की कहानी है कि किस प्रकार एक स्त्री अपने पति से विमुख होती हुई भी अन्त में उसी को अपना सर्वस्व मानती है।

इनके ग्रन्थ :—

काव्य—तक्षशिला, राका, विसर्जन, मानसी, युगदीप, अमृत और विष।

नाटक—दाहर, अम्बा, सगरविजय, मत्स्यगंधा, विश्वामित्र, राधा, कमला, अन्तहीन अन्त, विक्रमादित्य, अभिनव एकाकी नाटक, स्त्री का हृदय, तीन नाटक, मुक्तिपथ।

उपन्यास—वह जो मैंने देखा (तीन भाग)।

नाटक के पात्र

मि० कपूर	यशवंत के मामा
यशवंत	जगदीशराय का लड़का
गुरुनारायण	जेल के सुपरिंटेण्डेण्ट
अंजना	यशवंत की माँ
शोभा	यशवंत की बहन
सुषमा	गुरुनारायण की लड़की
राजरानी	,, ,, स्त्री

साधु, कैदी आदि

स्त्री का हृदय

पहला दृश्य

[एक साधारण गृहस्थ के मकान का कमरा। कमरे की लम्बाई-चौड़ाई १५ फीट×१२ फीट। पूर्व की तरफ़ से पश्चिम को खाट पर एक स्त्री लेटी है। वय लगभग ३३ वर्ष। गौर वर्ण, पर दुर्बल। अभी लम्बी बीमारी से उठी है। दाहिनी तरफ को आमने-सामने दो कुर्सियाँ। उसके पास एक पुराने ढंग का मोढा रक्खा है। कमरे में कोई सजावट नहीं है। सिरहाने की तरफ़ एक छोटी मेज पर दवा का सामान है। एक शीशे का गिलास, कुछ शीशियाँ, थर्मा-मोटर, टाइमपीस, ग्लूकोज़ का डिब्बा, रुई, बोरिक तथा मलहम की डिब्बियाँ। परों की तरफ एक लोहे की जालीदार अलमारी पर एक सन्दूक। खाट के साथ दीवार पर कलेंडर। पूर्व व पश्चिम की तरफ बराबर दो चित्र टँगे हैं, हाफ़साइज़ के फ्रेम में जड़े हुए। पूर्व की ओर एक चित्र है इस घर के स्वामी जगदीशराय का और बराबर में उसके पुत्र यशवंतराय का। समय दिन के लगभग दस बजे। पूर्व की तरफ़ अंजना के भाई मिस्टर कपूर बैठे हुए हैं, उनके सामने जगदीशराय का पुत्र यशवंत। दोनों क्षोभ में भरे बैठे हैं, दाँत काटते हुए ऐंठन लिए। स्त्री दूसरी तरफ़ चुप पड़ी है।]

मि० कपूर—मैं इस आदमी को पहले से ही जानता था। ब्याह से पहले ही। तभी तो कहते हैं दुष्ट का संग कभी न हो। न जिसके कुल का कोई ठीक न ठिकाना, ज़रा पढ़ा-लिखा देखा और ब्याह कर दिया। हुश् (दाँत पीसकर ज़मीन पर जोर से पैर मारता है)

यशवंत—(उसी ढंग से) हम लोगों का इस मामले में सिर ही नीचा हो गया है। जो देखता-सुनता है, हैरान रह जाता है। और सच तो यह है कि मुझे बार-बार छिपाना पड़ता है अपने आपको।

मि० कपूर—अरे साहब, वह तो कहो कि दूरी की वजह से घर के कुछ आदमियों के सिवा किसी और को कुछ मालूम नही हुआ। नहीं तो साँस लेना मुश्किल हो जाता और शर्म के मारे पानी हो जाना पड़ता। कोई बात है? छिः।
(एक टाँग पर दूसरी टाँग रखता है)

यशवंत—होस्टल तथा कालेज में सभी जगह मुझे यह बात छिपाकर रखनी पड़ी। दो-दो मुसीबतें एक साथ. ....।

मि० कपूर—(स्वस्थ होकर) अभी तुम्हारा कोर्स कितना बाक़ी है?

यशवंत—अब तो सिर्फ़ प्रैक्टिकल ही बाक़ी है। सौभाग्य से हमें जहाँ प्रैक्टिकल करने को मिला है वे मेरे मौखिक परीक्षक भी थे। बहुत ही सज्जन आदमी हैं। पंद्रह दिन बाद मैं फ़्री हो जाऊँगा। उसके बाद शायद कोई जगह भी मिल जाय।

मि० कपूर—तो देखो ख़र्च-वर्च की तंगी न उठाना। घर से मँगा लेना। अंजना का भी ख़याल रखना। शोभा की पढ़ाई का क्या हाल है?

यशवंत—इस बीमारी में वह सिलसिला तो कुछ खराब जरूर हो गया है।

मि० कपूर—खैर, अब उसकी पढ़ाई ठीक तरह से चल सकेगी। (अंजना की ओर देखकर) अब तीन महीने अस्पताल में रहकर ठीक हुई हो। (पहले जैसा रूप) गुस्सा तो ऐसा आता है, गोली मार दूँ। अच्छा हुआ दो साल की सजा हो गई बच्चू को। वह तो कहो कि जज ने रियायत की, नहीं तो फाँसी होती। (अजना करवट बदलकर उधर देखती है और बातें सुनती है)

अंजना—(कठिनाई से हाथ से टाँग उठाकर) हाय, मालूम होता है यह मेरी टाँग ठीक न होगी। (कपूर की ओर) भैया, सचमुच तुमने मुझे बचा लिया। नहीं तो जाने क्या हालत होती हम लोगों की। (चुप हो जाती है)

मि० कपूर—अब हम लोगों का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। कैद काटकर आये हुए आदमी की अब यहाँ कोई जरूरत नहीं।

यशवंत—समाज में उनको साथ रखने से हम लोगों की बदनामी भी है। आखिर हमें भी तो मुँह दिखाना है, मर्यादा से रहना है।

मि० कपूर—सो तो है ही। मेरे यहाँ भी उसका अब प्रवेश नहीं हो सकता।

यशवत—(आँखें पोंछकर) सब से बड़ा अपमान तो हुआ मेरा। इतने बड़े आदमियों से जान-पहचान। आफिसस को यदि यह मालूम हो जाय कि यशवंत का बाप दो साल की कैद में है तो शायद नौकरी से भी हाथ धोना पड़े।

मि० कपूर—तो तुम इसका जिक्र ही मत करो। कहो, हमारा कोई नहीं है वह।

अंजना—तुम उनकी चर्चा ही मत करो। किसी को बतलाओ ही मत। मैं तो सचमुच मर ही गई थी। इन बच्चों के भाग से कुछ दिन जीना था जो मौत के मुँह से निकल आई।

मि० कपूर—मैंने तो जिस समय सुना कि जगदीश ने अंजना को मार-मार कर अधमरा कर दिया, उसी समय मैंने निश्चय किया कि इस बार उसको फाँसी दिला के ही छोड़ूंगा। इतना पढ़ा-लिखा और इतना बेवकूफ शायद लालटेन लेकर भी ढूंढने से न मिले।

यशवंत—उनकी आदतें तो पहले ही खराब थीं। रोज शाम को दफ्तर से शराब पीकर लौटते। जुए के लिए माँ से रुपया माँगते। न मिलने पर उन्हे पीटते। एक दिन मुझे ऐसा क्रोध आया कि यदि माँ न रोकतीं, तो मै मार बैठता। बाप का अर्थ यह तो नहीं है कि किसी की कोई इज्जत ही न करे। और पिछले छै मास से मैं बोलता थोड़े ही था। (एकदम चुप-चाप सामने टँगी तस्वीर उतारकर बाहर पटक देता है) अब इसकी यहाँ कोई जरूरत नहीं है।

मि० कपूर—ठीक तो है, हटाओ इस कूड़े को। ऐसे नालायक़ को भूल जाना ही अच्छा।

अंजना—और तुम यह देखो भैया कि मेरे पास एक गहना न छोड़ा, ससुराल का तो भला था ही कितना, मेरे पीहर का भी एक-एक करके सब ले लिया, नहीं देती थी तो मारते थे।

न जाने हमारे समाज का कानून कैसा है, नहीं तो अब से कभी पहले संबंध त्याग देती। कालेज की डिबेट में मैंने एक बार कहा भी था।

मि० कपूर—नारियों के साथ यह बड़ा अन्याय है। समाज को इसका कोई न कोई प्रतीकार अवश्य करना होगा। ऐसे हत्यारे, ज़ालिम पति को स्त्री के ऊपर अंकुश रखने का कोई अधिकार नहीं है।

यशवत—यह भी आदमी में बीमारी का लक्षण है। यह 'इन्सेनिटी' की एक क़िस्म है। हमारे यहाँ साईकोलोजी में जहाँ पागल मनुष्यों के लक्षण बताए गए हैं वहाँ बहुत क्रोधी, शराबी, एकदम भड़क उठने वाले आदमियों को भी समाज से दूर रखने को कहा गया है। इसी तरह व्यभिचारी तथा अत्याचारी मनुष्य भी एक तरह के बीमार ही कहलाते हैं।

मि० कपूर—(हाथ की अँगुलियों पर चुटकियाँ बजाते हुए) यह सब बातें स्वतंत्र देशों मे होती हैं। वहाँ सरकार समाज की व्यवस्था को ठीक रखने के लिए नए-नए स्वास्थ्य-विभाग खोलती है। शादी होने के पहले वरवधू की डाक्टरी परीक्षा भी होती है।

अंजना—लेकिन कालेज मे तो वे . जाने दो। (मुँह फेर लेती है)

मि० कपूर—तुम क्या जानो, स्त्रियाँ सीधी-सादी होती हैं। रूप और बाहरी गुण देखा, बस मुग्ध हो गईं। असल बात तो यह है कि यह कोर्टशिप भी वर-वधू के पहचानने का कोई ठीक उपाय नहीं है। जिस समय तुम लोग इंटर में थे, मै नवें में पढ़

रहा था। इसलिए किस तरह तुम लोगों की मित्रता प्रारम्भ हुई यह मुझे मालूम नहीं।

यशवंत——नान्सेन्स।

अंजना—हमारे क्लास में तो यह हमेशा फर्स्ट-सेकंड स्टैंड करते रहे हैं। डिबेट में, लेक्चर में हमेशा प्राइज़ पाते रहे हैं। मुझे क्या मालूम कि यह आदमी इतना भयंकर निकलेगा। (क्रोध से चेहरा लाल हो जाता है)

यशवंत—उस समय इनके माँ-बाप भी थे?

अंजना—नहीं। ट्यूशन करके पढ़ते थे जी, बड़ी मुसीबतों में। मेरे कहने पर ही पिताजी ने इनका ट्यूशन मुझे रखवा दिया था।

मि॰ कपूर—आश्चय है, इतना बुद्धिमान आदमी ऐसा निकला?

यशवंत—उसकी एक वजह है, कभी-कभी ग़रीबी में आदमी की बुद्धिमत्ता भी समाप्त हो जाती है। कभी-कभी जो लोग विद्यार्थी-जीवन में बहुत अच्छे होते हैं, बाद में जाकर 'डल' हो जाते हैं। यह भी एक मनोवैज्ञानिक बात है। दिमाग पर अभावों की भी प्रतिक्रिया होती है। अच्छा खाना न मिलने, अस्वास्थ्य-कर परिस्थितियों मे रहने या चिंता बहुत करने से मनुष्य के मस्तिष्क की शक्तियों का विकास रुक जाता है, उनमें न बुद्धि रह पाती है, न स्फूर्ति, न प्रेरणा; और वेग के प्रभाव से तो बुद्धि दूपित हो उठती है। उस समय वे सब ज्ञानतंतु—भाव की इच्छा

को पूरा करने के लिए दौड़ते हैं। उस अवस्था में मनुष्य न पाप देखता है, न पुण्य, न बुरा, न भला।

मि० कपूर—तुमने तो बहुत कुछ पढ़ डाला है।

यशवंत—यह तो हमारे कोर्स की बातें हैं। हमें ये सब बातें जाननी ही चाहियें। मनोविज्ञान तो हमारे यहाँ का खास विषय है। इसमें व्यक्ति को पहचानने और उसको 'रीड' करके ठीक करने का सदा अवसर रहता है। इसी तरह चोरी करने, झूठ बोलने, गाली देने तथा क्रोध करने की आदतें भी एक तरह से बीमारी में ही गिनी जाती है।

अंजना—(एकदम हाथ जोड़कर) भैया, तुमने मुझे उबार लिया। नहीं तो जाने क्या हालत होती। तुम्हारी ही कृपा से यह पढ़-लिख गया है। लड़की भी पढ़ ही जायगी। अब नवें में है। मुझे डर है, कहीं इस साल फ़ेल न हो जाय। मेरा तो भाग ही मरा फूटा है। गहना नहीं, लत्ता नहीं, मकान नहीं, रुपया नहीं, सब उजाड़ दिया। नहीं तो डेढ़-सौ में मज़े से गुज़र चल रही थी। दो-एक बार मैंने सोचा, लाओ नौकरी कर लूँ, पर नौकरी भी तो नहीं करने दी। कहते थे—'मेरे होते तुम नौकरी क्यों करती हो। पति का कर्तव्य है कमाना और स्त्री का कर्तव्य है गृहस्थी का पालन।' कुछ भी कहो....जाने दो, मैं उस दुष्ट का नाम भी न लूँगी।

यशवंत—हाँ, मेरे सामने उनका नाम न लो। मैं उनको पिता नहीं कहता। जिसने हमें दर-दर का भिखारी बना दिया। समाज की दृष्टि में गिरा दिया। कभी उनमें कोई गुण होंगे, पर अब तो

वे पागल हो गए थे। अच्छे होते तो नौकरी ही क्यों जाती। आज छै मास से खाली बैठे थे। निकाल दिये गए, हमारा दुर्भाग्य!

मि० कपूर—यह ठीक है। पर अंजना भी ग़लत नहीं कहती, यशवंत! न मालूम इन दिनों उनकी प्रवृत्ति ऐसी कैसे हो गई, आश्चर्य है। कहते हैं, नौकरी उन्होंने साहब से न पटने के कारण छोड़ दी थी। फिर भी घर का ख़याल करके ही उस आदमी को कुछ झुकना चाहिये था। असल में शराब ने उसे तबाह कर दिया। अच्छा, पहले तुम यह बताओ, (टाइमपीस की ओर देखकर) मुझे अभी बारह की गाड़ी से जाना है, ख़र्च का क्या हाल है? (जेब से निकालकर) रुपये तो तुम्हारे पास अब क्या होंगे। ख़ैर लो, ये १००) हैं। इस समय किसी तरह काम चलाओ। (रुपया देता है)

अंजना—नहीं भैया, अब रुपयों की जरूरत नहीं है। मैं ठीक होते ही किसी स्कूल में नौकरी कर लूँगी। मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिया है। (शोभा का दलिये की कटोरी और जगदीशराय की तस्वीर हाथ में लिए प्रवेश)

शोभा—(ज़ोर से) यह बाबू जी की तस्वीर बाहर किसने फेंक दी? देखो तो, शीशा टूट गया है।

यशवन—फेंक दे उधर। यहाँ क्यों ले आई? यह बाबूजी की नहीं, हत्यारे जी की है, जिसने हमारी माँ को पागलपन में आकर मार ही डाला था। ला, मुझे दे। (लेकर बाहर फेंक देता है)

मि० कपूर—बेटा, क्या तुझे नहीं मालूम कि यह आदमी नहीं,

हत्यारा है। वह तो कहो, तुम लोगों के भाग्य थे, जो मौत के मुँह से तुम्हारी माँ निकल आई।

अजना—दलिया ले आई। (हाथ में लेकर) और तुम देखो भैया, कि इस शोभा मेरी ने उनका क्या बिगाड़ा था, एक दिन इसे भी पीटते-पीटते अधमरा कर दिया।

शोभा—भाभी, उसमें मेरा कसूर था । (उसकी आँखों में आँसू भर आते हैं। दलिया हाथ में देकर एकदम बाहर निकल जाती है।)

अजना—देखो यशवत, तस्वीर. . ...नहीं नहीं हटाओ मेरे सामने से ।

मि॰ कपूर—अंजना बहन, तुम भी पूरी. . . . .। अच्छा, अब तुम कभी मुलाक़ात को जाओगी क्या ?

यशवत—मैंने तो निश्चय किया है, मैं तो ऐसे आदमी का मुँह न देखूँगा। यह क्या ? नान्सेन्स, जिस आदमी ने तुम्हें इतनी तकलीफ़ दी उसके लिए.. .....?

अंजना—नहीं, दलिया गरम था। शोभा हाथ पर धरकर चली गई। मैं क्यों रोती भला ? (दृढता दिखाती है)

मि॰ कपूर—स्टुपिड, अच्छा मैं चला।

अजना—तो, खाना तो खालो भैया ? दो बजे तक पहुँचोगे। उस समय खाना कहाँ होगा ?

यशवंत—न हो तो चाय का एक प्याला ले लीजिए। शोभा!

मि॰ कपूर—नहीं, कुछ इच्छा नहीं है। डाक्टर ने काफी खिला पिला दिया है। तुम दवा लो न ?

यशवंत—ग्यारह बजा चाहते हैं। अच्छा यह दलिया खा

लो। फिर सही। हर काम टाइम पर ही होना चाहिये। माँ, मामा जी से वह बात तो कह दो।

मि० कपूर—क्या बात है ?

अंजना—हाँ, एक बात तो कहनी रह ही गई। यहाँ एक बड़े आदमी हैं। शायद। कही दफ्तर में सुपरिंटेण्डेण्ट है न भैया ? उनकी एक लड़की है।

मि० कपूर—समझ गया।

अंजना—उन्होंने मुझे और यशवंत को एक दिन चाय के लिये बुलाया है। वे यशवंत को बहुत चाहते हैं।

यशवंत—वे हमारे ओरल एगज़ामिनर भी रह चुके हैं। मैंने उन्हें आपका परिचय दिया। आदमी वे बहुत सज्जन हैं। बड़े सभ्य और धनी; उन्हें इतना तो मालूम है कि माँ बीमार हैं। एक बार वे खुद देखने आना चाहते थे। कार लेकर चले भी; पर मैंने ही टाल दिया। यहाँ लाकर कहाँ बिठाता, घर की हालत तो आप देख ही रहे हैं।

मि० कपूर—हाँ, बड़े आदमियों के लिये सब सामान बड़ा होना चाहिए। अभी हमारे यहाँ उन दिनों डिप्टी-कमिश्नर आए थे। उस समय उनकी आवभगत में दो सौ तो सफाई में खर्च हो गये। एक हज़ार लगे पार्टी में। तो हो आओ न ?

अंजना—ठीक होते ही जाऊँगी। जाने-आने में नौकरी भी शायद यशवंत की जल्दी लग जाय। देखूँ, क्या कहते हैं।

मि० कपूर—हाँ इस लाइन में तो मेरी जान-पहचान है नहीं। कमिश्नर से कह सकता हूँ, पर वह भी बड़ा आदमी है, करे न करे।

शोभा—(वेग से) जब बाबूजी कमाते थे तब सब को अच्छे लगते थे। यदि न्याय की रक्षा के लिए उनकी नौकरी छूट गई, उन्हें व्यसन लग गया, तो वे ऐसे कडए हो गए कि किसी को फूटी आँखों नही सुहाते। और अब उन्हे जेल भेजकर तो सबका जी ठंडा हो गया।

अंजना—(क्रोध से) चुड़ैल, छोटे मुँह बड़ी बाते करती है। क्या हमने उन्हें जेलखाने भेजा है? मालूम होता है माँ से तुझे कोई ममता नही है। उन्होंने जो मुझे मार डाला था, और मै जो तीन महीने अस्पताल मे पड़ी रही उसका तुझे कोई दुख नहीं है। दुख तो केवल बाबूजी का है, क्यों?

शोभा—यदि तुम और भैया चाहते, तो वे बच सकते थे।

अजना—मेरी इतनी बातों का यही जवाब है?

शोभा—(रोकर मुँह फेरती हुई) क्या जानूँ? (उठकर चली जाती है।)

अजना—घृणा, ममता, प्रेम .... नहीं मैं उन्हे नही चाह सकती। नहीं चाह सकती। झूठ है, ...।

(पर्दा गिरता है)

अंजना—हाँ, यह सब तेरे बाबूजी की मेहरबानी है। जान ही ले ली थी दुष्ट ने। यदि भाई का घर न होता तो .... (आँखों में आँसू भर आते हैं) ईश्वर उसे सुखी रखे।

शोभा—अब आटा तो है नहीं, खाना कैसे बनेगा ?

अंजना—हम लोग भिखारी हो गये है। नौकरी गई, रुपया गया और अब खाने के भी लाले पड़ गए हैं।

शोभा—असल में नौकरी छूटने से बाबूजी की आदत खराब हो गई थी। अगर साहब के कहने के अनुसार वे भी चोरी रिश्वत लेते तो ठीक रहता। इसमें बाबूजी का क्या अपराध था माँ ?

अंजना—फिर भी आदमी को देख-भालकर चलना चाहिए। यदि रिश्वत लिए बिना काम नहीं चलता था तो लेते। मैंने तो कहा कि साहब को ख़ुश रखो, चाहे कुछ करना पड़े।

शोभा—तो तुम बुरे काम के पक्ष में हो। रिश्वत लेना भी तो बुरा काम ही है।

अंजना—(स्तब्धसी होकर दनिया खाती हुई) तू इन बातों को क्या समझे ? नौकरी छोड़ने के बाद से घर की क्या हालत हो गई है ? पैसे-पैसे को तंग हैं हम लोग। वह तो कहो, भाई का घर था; नहीं तो कौन जाने भीख ही माँगनी पड़ती। तुम्हारी तो जिंदगी ही खराब हो गई बेटी। (शोभा चुप रहती है; खाकर बर्तन खाट के नीचे रखती हुई) तू बोलती क्यों नहीं है ?

शोभा—(रुककर) क्या ? मेरी तो कुछ भी समझ में नहीं आता।

अंजना—तुझे मेरा कष्ट नहीं मालूम होता ?

साधु—सुखराम कार लेकर गया है, हुजूर। आते ही होंगे।

गुरुनारायण—देर तो काफी हो गई। रहता कहाँ है? शायद शहर में ही कहीं रहता है?

सुषमा—शहर तो बड़ी 'डर्टी' जगह है बाबूजी। 'ओः हॉरीबल'। कैसे रहते होंगे वहाँ लोग? हमारे कालेज मे कुछ लड़कियाँ शहर से आती हैं, शहर तो बीमारी का घर है बाबूजी।

गुरुनारायण—हाँ, बेटो। ग़रीब आदमी शहर में ही रहते हैं। कुछ अमीर लोग भी शहर में रहते हैं।

सुषमा—शहर में इतनी गंदगी क्यों रहती है, बाबूजी? अभी उस दिन मैं वहाँ गई तो देखा—कही कूड़े का ढेर है, कहीं कीचड़ है, कहीं मैला पड़ा है। छोटे-छोटे मकान, तंग गलियाँ, न कहीं हवा न प्रकाश। आखिर भारतवर्ष के शहर इतने गदे क्यों हैं?

गुरुनारायण - हमारे शहरों की पुरानी बनावट ही ऐसी है। पहले समय के लोग चोरी-डाके के डर से इकट्ठे होकर रहते थे, वही नियम-सा बन गया है।

सुषमा—तब क्या शहरों में इतने आदमी रहते थे?

गुरुनारायण—नहीं, पर अब वैसा नही है। यह हमारे यहाँ की प्रबन्ध की कमी है। म्युनिसिपैलिटी के सदस्य इन बातों पर ध्यान नही देते। कुछ लोगों की आदतें भी वैसी ही हो गई हैं। उन्हे सफाई से रहने की आदत ही नहीं है। हमारे यहाँ स्वास्थ्य की शिक्षा का बडा अभाव है। लोगों को वैसी शिक्षा ही नहीं दी जाती कि स्वच्छ वायु में सफाई के साथ रहना सीखे। किन्तु

दूसरा दृश्य

[कोठी में आधुनिक ढंग से सजा हुआ विशाल कमरा। दीवारों पर कई प्रकार की छोटी-बड़ी तस्वीरें, नीचे काश्मीर का बना हुआ मखमली कालीन। दोनों ओर दो सोफा-सेट एक ही रंग के। कानिस्त पर जालीदार कपड़ा, दोनों तरफ धूपदानों मे धूप-बत्तियाँ जल रही हैं। बीच मे गुलदस्ते में नर्गिस के फूलों का गुच्छा। कमरे में पूर्व-उत्तर के कोने मे छोटी मेजों पर गुलदस्ते रखे हैं। दक्षिण की तरफ बड़ी कोच पर रायसाहब गुरुनारायण बैठे हुक्का पी रहे हैं। कमरे के दरवाजों पर रेशमी जाली के पर्दे उठाये हुए हैं। उत्तर की तरफ के दोनों दरवाजे खुले हैं। सामने बरामदे मे दो-तीन मोढे रखे हैं। दरवाजों मे बेलें फैल रही हैं। एक दरवाजा भीतर के मकान में जाता है। गुरुनारायण ऊँचे कद के दोहरे बदन के व्यक्ति हैं। आयरिश लट्ठे की लौटदार कफ की कमीज और जीन की सफ़ेद पतलून पहने हैं। सिर के बाल सफेद, लंबा भरा मुँह, नोंकदार पतली मूँछें, बदन गठीला, उम्र लगभग चालीस साल। हाथ में अंग्रेजी का दैनिक समाचार-पत्र है। सामने घड़ी टँगी है, जिसमे इस समय आठ बजकर पच्चीस हो रहे हैं। कभी घड़ी मे देखते हैं फिर अखबार पढने लगते हैं। नौकर-चाकर इधर-उधर दबे पाँव आ-जा रहे हैं। गुरुनारायण हुक्के का कश लेते हुए।]

गुरुनारायण—साढ़े आठ बजने चाहते हैं अभी तक यशवंत नहीं आया? (सुषमा कमरे मे प्रवेश करती हुई)

सुषमा—अभी तो नहीं आये बाबूजी। साधु, साधु! वे बाबू नहीं आये? (साधु नौकर का प्रवेश)

साधु—अभी नहीं आये सरकार।

गुरुनारायण—कौन लेने गया है?

नहीं हूँ। हाँ, तो मैं कह रही थी न जाने कौन-कौन जात के हैं मरे! नही साधु, घर के काम मे उन्हे मत लगाना भैया!

गुरुनारायण—बुरी जात के आदमी तो यहाँ आते ही नहीं। जेलर खुद देखकर भेजता है।

राजरानी—फिर भी जब कैदी हैं तब उनकी जात का क्या ठिकाना? कैदी, मै तो कैदी से पहले बहुत डरूँ थी बाबा रे बाबा! तुम जानो ... (इतने में मोटर का हार्न और टेलीफ़ोन की घंटी साथ सुन पड़ती है)

(गुरुनारायण दूसरे कमरे में, साधु तथा सुषमा बाहर चले जाते हैं। कमरे मे यशवंत की माँ और यशवत प्रवेश करते हैं। नमस्ते-नमस्ते के बाद यशवंत पास के छोटे कोच पर, उसकी माँ राजरानी के पास, दूसरी ओर छोटे स्टूल पर सुषमा बैठ जाती है।)

सुषमा—शोभा बहन नहीं आई?

अंजना—आज उसकी तबियत ठीक नहीं थी।

सुषमा—शहर में कोई स्वस्थ कैसे रह सकता है। बड़ी डर्टी जगह है वह।

अजना—जहाँ मैं रहती हूँ वह तो साफ है।

राजरानी—शहर, आखिर फिर गंदा तो तुम जानो हैई है। हमसे तो वहाँ एक दिन भी न रहा जाय। जाते ही जी मे, तुम जानो, न जाने कैसी मिचलाहट होवे है। न जाने, तुम लोग, लोग कैसे रहे हैं।

अजना—(आश्चर्य से) जी!

राजरानी—हम तो बड़ी साफ हवा में रहे हैं।

यशवंत बड़ा होशियार लड़का है।

सुषमा—शहर में रहने वाला कोई भी होशियार कैसे हो सकता है, बाबूजी ? (राजरानी का प्रवेश, वह बहुत मोटे कद की ठिंगनी स्त्री है।)

राजरानी—होशियार तो हुआ, पर तुम जानो चाय को तो देर हो रही है, मै कहे दूँ हूँ (कोच पर धम्म से बैठती हुई) ऐसे-वैसे के यहाँ मेरी सुखमा, तुम जानो, नही जायगी। हाँ, फिर पीछे कहो। यह मानी कि लड़का अच्छा है पर तुम जानो घर-बार तो... अरे साधु, सब तैयार है न ? सुखमा बेटी कोई अच्छीसी साड़ी पहन ली होती, तुम जानो कि, न जाने उसकी माँ क्या पहन के आरही होगी। साड़ी-तो ये भी . क्या कहो हो ठीक है न ? क्योंरी सुखमा तू ही बता। (अपनी साड़ी की ओर सकेत करके) कोई बतावे भी तो नही है कि कब मैं क्या पहनूँ ? साधु ! देख इधर कूड़ा पड़ा है।

सुषमा—हाँ भाभी, यह साड़ी ठीक तो है।

गुरुनारायण—(हुक्का गुड़गुड़ाते रहते हैं)

साधु—कहीं भी कूड़ा नही है हुजूर, सब साफ है।

गुरुनारायण—कैदी आज कितने आये, मेहदी काट रहे हैं न ?

साधु—जी, चार है। दो पानी दे रहे हैं। दो बाग साफ कर रहे हैं।

गुरुनारायण—उनको घर का काम भी सिखाओ।

साधु—जी।

राजरानी—पर मैं कैदियों के घर मे काम करने के पक्ष में

राजरानी—हाँ, तो मैं कह रही थी, इसके सिवा यह घर ऐसा वैसा भी तो नहीं है। सरकार का सुभाव भी बड़ा तेज है। वैसे तो हमारे घर भी दसियों नौकर काम करे हैं। जायदाद क्या मरी थोड़ी है ? कितना न जाने, कितना सुखमा बेटी, हाँ, याद आया सात हजार तो मालियाना दें हैं।

अंजना—मेरे भैया के यहाँ भी बड़ा ठाठ बाट है।

राजरानी—हाँ, सो तो होईगा। क्यों न होगा, तुम जानो मेरे ही पीहर में, अरे साधु, चाय वाय लेआ न ! क्यों जी कहते क्यों नहीं हो ? अरे कहाँ गये ?

सुषमा—(हँसकर) बाबूजी यहाँ कहाँ हैं भाभी। अभी टेलीफ़ोन आया था न ?

राजरानी—(हँसकर) अच्छा। मुझे बातों में ध्यान ही नहीं रहा। हाँ तो मैं कह रही थी, मेरे पीहर में भी बड़ी जायदाद है। यहाँ भी क्या कमी है ? लड़का बिलायत पढ़ने गया है। ये लड़की कालेज में पढ़े है।

अंजना—जी।

राजरानी—तुम जानो यहाँ भी किसी बात की कमी नहीं है। सुखमा ! सरकार को बुला ला। चाय ठंडी हो रही है। टैम भी बहुत हो रही है।

सुषमा—अच्छा। (कनखियों से यशवंत को देखती हुई बाहर चली जाती है, यशवंत हाथ की उँगलियाँ चटकाता हुआ नीची नजर से सुषमा को देखता है।)

अंजना—जी ।

राजरानी—शोभा कौन री ?

'यशवंत—मेरी बहन ।

सुषमा—वह हमारे कालेज मे पढ़ती है। बड़ी अच्छी लड़की है भाभी ।

राजरानी—हॉ अच्छी तो होवे हीगी । ये क्या (अंजना को तरफ) बुरी है ?

सुषमा—बड़ी सीधी है भाभी । इधर उसे बहुत दिनों से देखा भी नहीं है ।

अंजना—मैं बीमार थी इसलिए उसे घर पर छोड़ना पड़ा । घर मे कोई देखने वाला न हो तो नौकर भी काम नहीं करते ।

राजरानी—पर हॉ, हमारी सुखमा तो तुम जानो घर का कुछ भी काम नही करती । (अंजना की ओर) वैसे जरूरत भी नहीं रहती ।

दो नौकर हैं । चार कैदी हैं, दो सिपाही हैं । और कैदी तो हम चाहें जितने बुला लें । पर तुम जानो बीमारी मे तो घर का आदमी चाहिता ही है । एक नौकर होगा ?

अंजना—हॉ एक है । काम तो शोभा को भी कुछ नहीं है सिवा पढ़ने के । नौकर तो मेरे भी कई थे पर चोरी के कारण उन्हें निकाल देना पड़ा ।

राजरानी—हॉ, चोरी की आदत तो तुम जानो, नौकरों में पड़ी जाय हैगी । हमारा साधु तो अच्छा नौकर है ।

सुषमा—सुखराम भी ।

पड़ा तुम जानो। इस घर में मेरी कोई भी सुने है ?

अंजना—नहीं—नहीं, आप बैठिये, जा तो बेटा यशवंत।

यशवत—(जो अवतक अखवार पढ रहा था) हॉ-हॉ, आप बैठिये मैं बुलाता हूॅ। (साधु ! साधु ! कहता निकल जाता है)

राजरानी—हॉ तो मैं कह रही थी। क्या कह रही थी ? मेरी याद तो भी बीमारी के बाद से ख़राब हो गई है।

अजना—(खीझकर) कह तो आप कुछ भी नहीं रही थीं।

राजरानी—कुछ भी नहीं कह रही थी ? (आश्चर्य से) शायद न कह रही हूँगी। पर तुम जानो गृहस्थी में बडा धंधा रहे हैगा। वैसे करूँ तो कुछ भी नहीं हूँगी, फिर भी तुम जानो . अरे चाय ठंडी हुई जारही होगी। साधु ! साधु !

(सब लोग आते हैं। अजना गुरुनारायण को प्रणाम करती है, नौकर चाय का सामान छोटी-छोटी मेजों पर सब के सामने रख देता है)

गुरुनारायण—(अजना से) सुना आप बहुत दिन बीमार रहीं ? (यशवंत की तरफ) मैंने इससे एक बार कहा भी था। पर यशवत ने समझा कहीं घर देख आया तो बार-बार चाय पिलानी पड़ेगी। (हँसते हैं)

यशवत—(नम्रता से) आप की कृपा के लिये हम लोग पहले ही आभारी हैं।

गुरुनारायण—कृपा आजकल की सभ्यता में सब से सस्ती चीज है। शायद रूखी कृपा, इसीलिये टाल दिया ?

अंजना—इसने मुझसे एक बार कहा भी था। पर मैंने कहा, उन्हें अवकाश ही कहाँ रहता होगा ?

राजरानी—तुम्हारे यहाँ क्या काम होता है ? वैसे तो कोई बात नहीं है, कोई न कोई काम होता ही होगा। चाहे जितनी जायदाद हो। अरे साधु ! सरकार नहीं आये, मरा साधु भी तो नहीं है। अभी उस दिन तबियत खराब हो गई तो डाक्टर पर डाक्टर, हकीम पर हकीम, वैद पर वैद सभी आ गये। इनकी, हमारे सरकार की जान पहचान क्या थोड़ी है ? बड़ा लड़का विलायत मे पढ़े है। दो ही बच्चे है ले-दे के। दो और थे, ईश्वर ने उन्हें समेट लिया। क्या किया जाय किसी का क्या वस है ? (आँसू पोंछती है)

अजना—शोक तो होता ही है। मेरे तो एक लड़की और यह लड़का है भगवान की दया से।

राजरानी—हाँ तो मै कह रही थी भगवान इन्हे बनाए रखे। अरे साधु ! साधु ! (अपने आप उठने का उपक्रम करती हुई, पर उठती नहीं है) कोई भी तो नहीं सुने है। जैसे देह मे जान ही नही रही है। बीमारी के बाद से क्या खाऊँ-पिऊँ थोड़े ही हूँ। योंही थोड़ा-सा साबूदाना, एक-डेढ़ गिलास फलों का रस, और सेर-डेढ़ सेर दूध। भूख ही नही लगती। पर सवेरे चाय के बिना तो रहा नही जाय है। दो फुलके छोटे-छोटे। भूख ही नही है। देह में जैसे जान ही नही है। रात को नीद, न दिन को चैन। अब तो जीवन भार है (उठने की चेष्टा करती हुई) न जाने ईश्वर सबकी सुने है, मेरी क्यों नही सुनता ? सरकार, तुम सरकार को तो जानती होगी ? मैं भी उन्हे सरकार ही कहूँ हूँ। बड़ा तेज मिजाज है उनका। नौकर चाकर तो थर-थर काँपे हैं। तो अब उठना ही

यशवंत—लेकिन हम लोगों ने किताबों में तो पढ़ा है कि जेल का अर्थ है मनुष्यों की प्रवृत्तियों में सुधार। सुधार तो होता नही है कैदी और बदमाश होकर निकलते है। सुना है छिपे-छिपे चोरी, रिश्वत-जुआ सभी कुछ चलता है। (चाय पीता है)

राजरानी—(अपने आप) भूख तो जैसे रही नही है।

गुरुनारायण—हाँ, मतलब तो सुधार से ही है। पर किसको चिंता है कि इनका सुधार हो। नियमों के अनुसार तो यही होना चाहिए कि बंदी को उसकी बुराइयों से छुड़ाकर शुद्ध सामाजिक प्राणी बनाया जाय। पर न तो सरकार को इसका ध्यान है न और किसी को। हम लोगों को तो केवल उसी के इशारे पर चलना होता है। बाहरी रूप सरकार का और है और भीतरी पालिसी और। वैसे जेलों मे इण्डस्ट्रियल विभाग खोले जाते हैं उनका असली आशय तो और ही होता है। (दूसरा प्याला ढालकर पीता है)

यशवंत—क्या हो सकता है? (मिठाई का एक टुकड़ा तोड़कर खाता है)

सुषमा—भाभी, मेरी साड़ी नही आई?

राजरानी—कह तो रही हूँ मँगा दूँगी।

गुरुनारायण—यही कि तमाम विभाग का खर्च क़ैदियों के सिर से ही निकाला जाय। जेल मे वही आदमी सफल हो सकता है, जो बेदर्दी, अन्याय, अत्याचार को न्याय समझे। मनुष्य के साथ किसी प्रकार की भी दया न दिखावे। दो वाक्यों में क़ैदी के साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिए कि बंदी न तो मरे, न पूरी

गुरुनारायण—पर मालूम होता है अब हमारे मार्ग में कोई रुकावट न रहेगी। चाय शुरू कीजिये। (सब लोग ही प्रारंभ करते हैं) तुम्हारी परीक्षा कैसे हुई?

यशवंत—जी, पर्चे तो अच्छे हुए हैं। देखिये! अब तो रिज़ल्ट के बाद ....

गुरुनारायण—ख़याल है रिज़ल्ट के साथ ही अपाइंटमेंट होगा। (चाय सिप करके) अभी जेलर की पोस्ट पर तो डायरेक्टली अपाइंट होना कठिन है। अच्छा देखो।

यशवंत—क्या कोई कमेटी अपाइंट करती है?

गुरुनारायण—हाँ, कई तरह से होता है। इन्सपेक्टर जनरल की ओर से भी होता है। क्या आशा है डिवीजन अच्छा आयगा? (चाय पीता है)

यशवंत—आपका आशीर्वाद हुआ तो। (टोस्ट खाता है)

गुरुनारायण—पर जेल का काम है बड़ा वाहियात। जरा सी असावधानी से सारा सर्विस का क्रेडिट समाप्त हो जाता है। और क़ैदियों की दुनिया तो एक मूर्खों का संसार है। बदमाश, चोर, जुआरी, हत्यारे, डाकू, ठग न जाने किन-किन लोगों से संबंध रखना पड़ता है। और फिर सब से भयंकर हैं राजनैतिक बंदी। पहली श्रेणी के लोगों को तो डाट-डपट, मार-सजा से ठीक भी किया जा सकता है पर जैसे इन लोगों मे तो जीवन का मोह ही नहीं होता। बात-बात में सत्याग्रह, बात बात मे अनशन. (चाय पीता है)

गुरुनारायण—तुम समझते हो तुम इस विभाग में सफ़ल हो सकोगे ?

यशवंत—विश्वास तो है। मैं तो एक ही बात जानता हूँ। डटकर ड्यूटी दी जाय और ऊँचे से ऊँचा पद प्राप्त किया जाय। सर्विस ही मेरा ध्येय है। और राष्ट्र-वाष्ट्र तो किसी और समय की चीजें हैं। 'स्वकार्यं साधयेत् धीमान्।'

गुरुनारायण—हाँ, उन्नति का यही मार्ग है। सरकारी आज्ञा का पालन सबसे बड़ा न्याय है। यही प्रत्येक उन्नति चाहने वाले कर्मचारी को ध्यान में रखना चाहिए। मैं जो आज इस पद पर पहुँचा हूं उसकी सफलता का मूलमंत्र यही है।

यशवत—लोग कहते हैं देशवासी होने के नाते हमें हर तरह से उसका ध्यान रखना चाहिये।

गुरुनारायण—देश क्या है ? यदि हम प्रसन्न हैं तो देश प्रसन्न है। अपना घर जलाकर दूसरे के घर की रक्षा करना मूर्खता है। 'आत्मानं सततं रक्षेत्।'

यशवत—मैं भी यही मानता हूँ।

अंजना—पर, देश के प्रश्न को व्यक्ति से ऊपर रखना ही चाहिये।

यशवंत—माँ ! तुम इन बातों को नहीं समझती। केवल चिल्लाने से ही देश की रक्षा तो हो नहीं सकती।

गुरुनारायण—हाँ, यह दूसरा मार्ग है। यदि सामर्थ्य हो तो वह भी चुना जा सकता है। साफ बात तो है, यह हम लोगों की कमजोरी है। हममे इतना साहस नहीं है कि हम इस कार्य

तरह से जीवित ही रह सके।

यशवंत—और राजनीतिक बंदी ? (एक टोस्ट को दाँत से कुतरता हुआ) इनके साथ तो हम लोगों का अच्छा व्यवहार होना ही चाहिये। लोग कहते हैं ये हमारे देश के नेता और कार्यकर्ता हैं।

गुरुनारायण - हाँ, (चाय का प्याला रखकर) क्या कोई सरकार चाहती है कि ऐसे आदमियों को किसी प्रकार की सुविधा दी जाय जो उसकी जड़ उखाड़ देना चाहते हैं ? उनके साथ हमारा व्यवहार बड़ी कुशलता का होता है। हम लोग ऐसे लोगों को इकट्ठा नहीं रहने देते। उनके स्वास्थ्य के संबंध में समाचार भी दबाकर रखते हैं। यदि बड़ा कैदी हुआ तो उसको इस प्रकार का कष्ट दिया जाता है कि उसे मालूम भी न हो और वह निकम्मा, बीमार, दुर्बल, सदा के लिए बेकार हो जाय। उसका इण्टरव्यू' रोक दी जाती है। कोशिश करते है कि उसे प्रलोभन (यदि वह आ सके तो) भी दे और उसे राष्ट्रीय कामों से हटा दें। और भी बहुत बातें हैं जिन्हें बतलाया नहीं जा सकता।

यशवंत—सुना है धारा सभा के किसी अध्यक्ष को स्लोपाइज़-निंग किया गया था ?

गुरुनारायण—जाने दो इन बातों को। मैं मानता हूँ कैदी का जेल में सुधार होना चाहिए पर यह हमें अभीष्ट नहीं है।

यशवंत—'हमें' यानी।

गुरुनारायण—सरकार को।

यशवंत—(सोचते हुए) जी।

कैदी—बहुत अच्छा। (इतने में देखता है कि यशवंत वहीं बैठा है। एक दम हैरानी, आश्चर्य, उत्सुकता, स्नेह से भरकर) यशवंत!

यशवंत—(अखबार से दृष्टि हटाकर) हैं, बाबूजी, तुम यहाँ? (खड़ा होकर) देखो, यह बात किसी को नहीं मालूम होनी चाहिये कि तुम यह मेरी नौकरी का प्रश्न है सुषमा के साथ.... तुम तो सेंट्रल जेल में थे?

क़ैदी—उस जेल से पिछले सप्ताह मेरा ट्राँसफर हुआ है। ओ, बड़ी प्रसन्नता की बात है। तुम घबराओ मत बेटा! अंजना की कैसी तबियत है? तुम लोगों ने मुझसे मिलने की अर्जी नहीं भेजी? पिछली बार तो मैं देखता रहा, सब लोगों के मिलने वाले आये। मैं आँखों में . .।

आँसू भरे बैठा रहा। शोभा कैसी है? हा! बहुत दिन देखे हो गये!

यशवंत—सब ठीक है। तुम चुपचाप चले जाओ। भाभी भी हैं।

क़ैदी—अंजना भी आई है क्या? क्या....एक बार . नहीं रहने दो।

यशवत—देखो बाबू जी, हम लोगों की लज्जा तुम्हारे हाथ है (पास जाकर) देखो ...किसी तरह से भी .. यह बहुत बुरा हुआ।

कैदी—(आवेग को दबाता हुआ) समझता हूँ, सब समझता हूँ पर जी नहीं मानता। (एक दम पास जाकर यशवत का आलिंगन करने

में हाथ डालें। आँख के बिलकुल नीचे पेट ही तो है ?

यशवंत—बिलकुल ठीक, पहले मैं भी यही समझता था पर अब तो देखता हूँ इसमे कुछ भी सार नही है।

अंजना—तो देश के उत्थान का कोई प्रयत्न ही नही करना चाहिये ? क्यों ? यह तो हमारा स्वार्थ हुआ।

गुरुनारायण—(तमक कर चुप रह जाते हैं)

यशवंत—स्वार्थ साधन तो सब ही करते है। हम भी वही करते हैं। नेता भी तो यश के लिए वैसा करते है।

राजरानी—सरकार जो कुछ सोचते हैं वह झूठ नहीं हो सकता। (टेलीफोन की घंटी बजती है)

गुरुनारायण—(सुषमा से) देखो तो बेटी कौन है ? ठहरो, रहने दो मैं ही जाता हूँ। (उठकर चले जाते हैं)

सुषमा—भाभी ! मेरा बाग़ दिखाओ इन्हें।

राजरानी—हाँ, सुषमा ने एक बाग़ लगाया है चलो ज़रा देख आओ। पर तू ही लेजा, क्या मैं भी चलूँ ?

सुषमा—हाँ, चलो न भाभी !

अंजना—अच्छा बाग़ ! कुछ फूल-ऊल भी हैं या..... ?

राजरानी—नहीं, बड़ा अच्छा है। हमारे कैदी वहाँ काम कर रहे हैं। (तीनों भीतर के दरवाजे से बाहर हो जाती हैं। यशवंत अख़बार उठाकर पढने लगता है। इतने में साधु और एक कैदी सामान उठाने के लिए आते हैं)

साधु—(चाय का सामान उठाकर दूसरे पुरुष से) देख, यह सामान ध्यान से उठा ला। टूट-फूट न जाय।
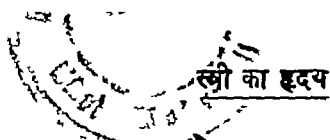
साधु—मैंने घुसते ही देखा कि यह इन बाबू को पकड़कर गिरा रहा है !

(गुरुनारायण एक बेंत उठाकर चार-पाँच सड़-सड़ मारते हैं, क़ैदी चिल्लाने लगता है । इतने में दौड़ती हुई सुषमा, अंजना और पीछे हाँफती राजरानी प्रवेश करती हैं, अजना एक दम कैदी को देखकर)

अंजना—ठहरो, ठहरो, क्या करते हो ? हाय, तुम्हें किसने मारा । (एक दम पति के शरीर पर गिर जाती है । गुरुनारायण, सुषमा और राजरानी आश्चर्य में भर जाते हैं ।)

गुरुनारायण—(यशवत की ओर देखकर) बहुत बुरी तरह मार पड़ी । यह तुम्हारा कौन है ?

यशवत—(गुमसुम रहकर) कोई न . ।

अंजना—(क्रोध से) कोई नहीं, क्या यह तेरे कोई नहीं हैं ? तू ठीक जेलर हो सकेगा बेटा । ठीक, रायसाहब, (ज़ोर से) यह मेरे पति हैं पति, इसके बाप । हाय . तुम्हारी यह दशा ! मैं इससे पूर्व ही मर क्यों न गई ? मुझे क्षमा करो । (एक दम मूर्छित होकर पति के पैरों पर गिर जाती है)

(पर्दा गिरता है)

यशवंत—है, क्या करते हो ? कोई देख लेगा। छोड़ो, छोड़ो। छोड़दो। (पिता के आलिंगन से अपने को छुड़ाता है पर वह छोड़ता नहीं है)

कैदी—(रोकर) मैं बड़ा अभागा हूँ। मैंने तुम्हारा सत्यानाश कर दिया। क्या अंजना को (आवेश मे भरकर एक बार फिर यशवत से लिपट जाता है) एक बार नही देख सकता ? (यशवंत पिता के बाहुपाश से अपने को छुड़ाता है, इतने मे साधु अचानक भीतर आता है और कैदी को उसे पकड़े हुए देखकर कैदी पर टूट पड़ता है, उसे मारने लगता है।)

साधु—बदमाश ! तेरी अभी सारी शरारत निकाल दूँगा। (धड़ाधड़ उसे पीटने लगता है) नही बाबूजी, आप मत बोलिए, मैं ऐसे लोगों का इलाज जानता हूँ। ले और हमला कर पाजी, सूअर, गधा कही का। (फिर पीटता है। कैदी चिल्लाने लगता है। आवाज सुनकर गुरुनारायण आते हैं) यह साला यशवंत बाबू को मार रहा था।

गुरुनारायण—क्यों ?

साधु—सुना है यह हत्यारा है। इसीसे इसको जेल हुई है।

गुरुनारायण—(क्रोध से) ऐसा ! लगाओ इस साले को, मार-मार कर अधमरा कर दो।

यशवत—जाने दीजिए इसने मेरा कुछ भी नही बिगाड़ा। (आगे बढकर छुड़ाने का प्रयत्न करता है)

गुरुनारायण—(यशवत से) ठहरो, हट जाओ। मै देखता हूँ मेरे यहाँ आए अतिथि पर आक्रमण !

कृषि-यज्ञ

[एक पौराणिक एकांकी नाटक]

—लेखक—

सेठ गोविन्ददास

सेठ गोविन्ददास

परिचय

सेठ गोविन्ददास हिन्दी के प्रथम श्रेणी के एकांकी नाटक-कार हैं। इन्होंने जितने पूरे नाटक लिखे हैं उतने एकांकी नाटक भी। इनके एकांकी नाटकों के निम्नलिखित संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—

सप्तरश्मि, एकादशी, पञ्चभूत।

सेठ जी आदर्शवादी एकांकी नाटककार हैं। गान्धीवाद का प्रभाव इनके प्रत्येक नाटक पर है। ये अपने पात्रों के द्वारा जीवन के आदर्श और भारतीयता के शुद्ध गांधीकरण मे सिद्धहस्त हैं। नाटककार कही २ आदश और यथार्थ में संघर्ष होने पर यथार्थता को भी आदर्श की श्रेणी पर लाकर रख देना चाहता है। इन्होंने बहुत से अपने नाटक केवल जीवन की व्याख्या के लिये लिखे हैं। हिंसा, अहिंसा, आत्मघात, बलिदान प्रायश्चित्त की आवश्यकता, धर्म और सत्य की सूक्ष्म व्याख्या, न्याय का यथार्थ स्वरूप, राजा के विविध रूप, हिन्दू-मुस्लिम, समस्या, अस्पृश्यता की समस्या, किसान और जिमीदार की समस्या आदि विषयों पर नाटक लिखे हैं। जहाँ जीवन के तत्त्वों और अनुभूतियों का प्रश्न हैं नाटककार प्रायश्चित्त में विश्वास रखता है। संयम इस नाटककार का सबसे बड़ा गुण है। सेठ

नाटक के पात्र

राम	प्रसिद्ध मर्यादापुरुषोत्तम
लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न	राम के भाई
सीता	राम की स्त्री
त्रिजट	एक ब्राह्मण
सुकेशानी	त्रिजट की पत्नी
यज्ञदत्त, वररुचि	त्रिजट के सहपाठी ब्राह्मण

स्थान—अयोध्या, उसका सरयू तट और
समीपवर्ती वनस्थली।

समय—त्रेतायुग।

जी ने मेलोड्रामा (जहाँ केवल एक व्यक्ति बोलता है।)—इस प्रकार के भी नाटक लिखे हैं।

प्रस्तुत नाटक "कृषि-यज्ञ" त्रेतायुग का एक चित्रण है। राम-राज्य में त्रिजट नाम का एक ब्रह्मचारी कृषि के आविष्कार और उसकी वृद्धि के लिये प्रतिज्ञा करता है। समाज उसकी निन्दा करता है। ब्राह्मण उसको अपवचन कहते है। फिर भी वह अपनी धुन में प्रजा के हित के लिये खेती प्रारम्भ करता है। इस नाटक में कृषि का प्रचार और मांसाहार की व्यर्थता को सिद्ध किया गया है। बनवास से लौटकर स्वयं श्री रामचन्द्र त्रिजट के इस काम की प्रशंसा करते है।

कृषि-यज्ञ

उपक्रम

स्थान—अयोध्या का सरयू तट।

समय—संध्या।

[बाईं ओर दूर पर अयोध्या के भवनों के बाहरी भाग दिखाई देते हैं। दाहिनी ओर सरयू बह रही है। अस्त होते हुए सूर्य के सुनहरी प्रकाश से सारा दृश्य आलोकित है। त्रिजट, यज्ञदत्त और वररुचि सरयू के पुलिन पर बैठे हुए बातें कर रहे हैं। तीनों की अवस्था लगभग २५ वर्ष की है। त्रिजट गेहुँए वर्ण का कुछ ऊँचा और दुबला-पतला व्यक्ति है। यज्ञदत्त का वर्ण गौर है। वह कुछ ठिगना और मोटा-सा है। वररुचि श्याम वर्ण का है, न बहुत ऊंचा और न ठिगना; न बहुत मोटा और न दुबला। तीनों ब्रह्मचारियों के वेष में हैं। सिर के तथा दाढ़ी-मूछों के काले बाल ब्रह्मचर्याश्रम में क्षौर न होने के कारण लम्बे हो गए हैं।]

यज्ञदत्त—(आश्चर्य से त्रिजट की ओर देखते हुए) कृषि! कृषि!...... त्रिजट, तुम कृषि करोगे, इसीलिए साङ्गोपाङ्ग वेद का अध्ययन करके वेदवेत्ता हुए हो? इसीलिए इतिहास और पुरान पढ़े हैं?

वररुचि—और साधारण वेद-वेदाङ्गवेत्ता नहीं, अवध के सर्वश्रेष्ठ गुरुकुल के सर्वोत्तम विद्यार्थी!

अर्पण करना, यह प्रश्न है न। मैं यज्ञ अर्पण की उस कृति को मानता हूँ जो कोई व्यक्ति या समूह समाज के हित के लिए करता है। समय-समय पर समाज की आवश्यकताएँ परिवर्तित होती रहती हैं, अत. यज्ञ के प्रकार भी। इस समय मानव-समाज के लिए सबसे आवश्यक कृषि है। अत. कृषि-यज्ञ ही इस समय का सब से श्रेष्ठ यज्ञ है। यह यज्ञ ब्राह्मण न करेगा तो कौन करेगा ? इस देश में नए-नए कार्यों को ब्राह्मणों ने ही किया है तथा उन्हें उत्तेजना दी है। हाँ, यदि ब्राह्मण स्वयं धनवान् बनने के लिए या किसी प्रकार के स्वार्थ से इन कामों को करे तो वह पतित हो जायगा। मैं कृषि-यज्ञ करूँगा, समाज के हित के लिए। मैं भी कृषि-सम्बन्धी प्रयोग कर नए-नए आविष्कार करूँगा और अपने आविष्कारों को यज्ञरूप से समाज के अर्पण कर दूँगा।

यज्ञदत्त—(विचारते हुए) परन्तु जहाँ तुमने हल जोतना आरम्भ किया कि इतने महान् विद्वान् और चरित्रवान् होने पर भी पतित, पतित ब्राह्मण समझे जाने लगोगे।

वररुचि—हाँ, समाज की रुचि ही ऐसी है।

त्रिजट—तो उस रुचि को ठीक करना होगा। वह भी ब्राह्मण का ही कर्तव्य है।

[यज्ञदत्त और वररुचि मस्तक झुकाकर कुछ सोचने लगते हैं। त्रिजट उनकी ओर देखता है।]

यवनिका

यज्ञदत्त—हाँ सर्वश्रेष्ठ गुरुकुल के सर्वोत्तम विद्यार्थी ! कल हमारा ब्रह्मचर्य समाप्त होकर समावर्तन संस्कार होगा और आज यह कृषि करने का निर्णय !

वररुचि—अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह —ब्राह्मण के छः कर्मों को छोड़कर निकृष्ट कर्म कृषि करने की तुम्हारी रुचि कैसे हुई ?

त्रिजट—कृषि को तुम निकृष्ट कर्म मानते हो ?

वररुचि—इसमें भी कोई सन्देह है ? आपद्धर्म के रूप में ब्राह्मण क्षत्रिय का कर्म तो कर भी सकता है परन्तु कृषि तो वैश्यों का कर्म है। ब्राह्मण के लिये निकृष्ट नहीं तो और क्या है ?

त्रिजट—मैं उसे इस समय का सर्वश्रेष्ठ यज्ञ मानता हूँ।

यज्ञदत्त—कृषि-यज्ञ !

वररुचि—आश्चर्य की बात कहते हो !

त्रिजट—यदि यज्ञ का ठीक अर्थ समझ लो तो मेरी बात पर आश्चर्य न होगा।

यज्ञदत्त—यज्ञ का अर्थ यज्ञ है; उसका और क्या अर्थ हो सकता है ?

त्रिजट—यज्ञ शब्द यज् धातु से निकला है; यज् धातु का अर्थ है अर्पण करना।

यज्ञदत्त—तुम्हारा सहपाठी होने पर क्या मैं इतना भी नहीं जानता ?

त्रिजट—नहीं-नहीं; परन्तु, यज्ञदत्त क्या अर्पण करना, किसे

होने पर भी यत्र-तत्र फट गया है। सुकेशनी उसके निकट ही बैठी है। उसकी अवस्था लगभग ४० वर्ष की है। शरीर पर फटी हुई साड़ी है। मुख पर अधिक श्रम के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं।]

सुकेशनी—हाँ, छोड़िए, इस समय छोड़िए, नाथ बीज-परीक्षा। कृषि के ये भिन्न-भिन्न प्रयोग तो दो युगों से हो रहे हैं।

त्रिजट— और तुम भी यही समझती हो कि 'मुझे चौबीस वर्षों मे कोई सफलता नहीं मिली ? (यव के कणों को दिखाते हुए) इस प्रकार के यव पहले अवध क्या, कही भी उत्पन्न नही होते थे, (यवों को ढेर में डाल, तिलों को उठाते हुए) न ऐसे तिल (तिलों को ढेर मे डाल, तण्डुलों को उठाते हुए) और न ऐसे तण्डुल। बीज ही सुधरा है, यह बात नही, उत्पत्ति कितनी बढ़ी है। कितने प्रकार के खाद्यों का उपयोग होने लगा है। और भी कृषि मे

सुकेशनी—पर हम तो दरिद्री ही रहे। हम तो आहार और बीज को छोड़ अपनी उत्पत्ति की वस्तुएँ विक्रय भी नही कर सकते। आहार के योग्य धान्य रख शेष आप बाँट देते हैं।

त्रिजट—हाँ, क्योंकि मेरा उद्देश्य व्यापार कर धनवान् बनना नहीं, समाज के लिए यज्ञ करना है।

सुकेशनी—क्षमा कीजिये, नाथ, इस यज्ञ ने हमें निर्धन रक्खा। इतना ही नही, क्षत-वृत्ति बना दिया है।

त्रिजट—यह समाज की नासमझी के कारण, जो कभी न कभी दूर होकर रहेगी।

सुकेशनी—दो युगों मे तो दूर हुई नहीं। भला हल-ग्राही ब्राह्मण को कौन यज्ञ के सातों प्रधान कर्मों के लिये होता, पोता,]

पहला दृश्य

स्थान—अयोध्या के निकट एक वनस्थली में त्रिजट के गृह का अलिन्द।

स्थान—प्रातःकाल।

[बाईं ओर छोटे से अलिन्द का कुछ भाग दिखाई देता है और दाहिनी ओर दूर तक वन तथा उसके बीच-बीच में अन्न से बोई हुई हरित भूमि। त्रिजट का घर टेढ़े-मेढ़े गाँठों वाले स्तम्भों पर है। छावनी तृण और पत्रों की है। पीछे अलिन्द की मृत्तिका की भित्ति है जिसमें छोटे-छोटे कुछ द्वार हैं। इन द्वारों से भीतर के छोटे कक्षों के कुछ भाग दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि कक्ष स्वच्छ हैं तथापि उनमें जो वस्तुएँ दिखती हैं, जैसे खाट, पीठ, पात्र आदि, वे टूटी-फूटी तथा टेढ़ी-मेढ़ी हैं। अलिन्द और कक्षों की धरती गोबर से लिपी है। सबसे निकट के कक्ष में मृत्तिका के कई घर दृष्टिगोचर होते हैं। सारे दृश्य से दरिद्रता टपकी-सी पड़ती है। त्रिजट सबसे निकट वाले कक्ष के द्वार के पास अलिन्द में बैठा है। उसके सामने यव, तिल और तण्डुल के छोटे-छोटे ढेर लगे हैं और वह यव के कुछ कणों को हथेली पर लिए ध्यानपूर्वक देख रहा है। त्रिजट की अवस्था अब ५० वर्ष के लगभग जान पड़ती है। नेत्रों के चारों ओर कुछ श्यामता आ गई है और मुख तथा शरीर पर सूर्य के आतप के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। शेष शिखा को छोड़ उसके सिर के केश अब छोटे छोटे हैं, पर दाढ़ी, मूछों और तनूरुहों के केशों में आधे के लगभग श्वेत हो गए हैं। शरीर में वह वैसा ही दुर्बल है। बाएँ स्कन्ध पर मोटा यज्ञोपवीत है। वह केवल अधोवस्त्र धारण किए है जो स्वच्छ

क्या बहुत अधिक हैं ? परन्तु हमारे बच्चे. [illegible] वे बच्चे (नेत्रों में आँसू भरकर) नाथ, उनकी. .. उनकी ओर भी देखना आपके किसी न किसी धर्म के अन्तर्गत तो आता ही होगा। (दीर्घ निश्वास मुख से निकलता है।)

[त्रिजट सिर झुकाकर कुछ सोचने लगता है। सुकेशनी त्रिजट की ओर देखती है। कुछ देर निस्तब्धता।]

त्रिजट—अच्छा, प्रिये, मैं जाता हूँ, राम से दान माँगूगा ; यदि उन्होंने भी इस समय के समाज की भावना के अनुसार हल-ग्राही ब्राह्मण को कुछ न दिया तो वर्तमान परिस्थिति ही चलती रहेगी। पर यदि उन्होंने कुछ दिया तो .... भी आजीवन हम और हमारी सन्तति बैठे-बैठे सुख से खाया करें, यह न होगा; क्योंकि अकर्मण्य जीवन मैं निकृष्ट मानता हूँ। राम से दान प्राप्त भी हो गया तो उसका ठीक उपयोग करना होगा।

सुकेशनी—(निराशा से) वह भी अपने श्रम की उपज के सदृश बाँट दिया जायगा।

त्रिजट—अपनी उपज मैं यों ही नहीं बाँटता, सुकेशनी! उचित पात्रों को देता हूँ। जो उस उपज से अपनी उपज सुधारें, उसे बढ़ाएँ। राम मुझे दान में क्या देते हैं, यह देखने के पश्चात् उसके उपयोग का निश्चय होगा।

[त्रिजट कक्ष में जाकर अपना उत्तरीय और दण्ड लेकर बाहर आता है तथा दाहिनी ओर जाता है। सुकेशनी चुपचाप जिधर वह गया है, उधर देखती रहती है।]

लघु यवनिका

ऋत्विज, नेष्टा, प्रशास्ता, अध्वर्यु या ब्रह्मा बनाएगा? कौन उससे अनुष्ठान, श्राद्ध, तर्पण इत्यादि कराएगा ? कौन उसे दान देगा ?

त्रिजट— कभी न कभी समाज के मत मे परिवर्तन होगा।

सुकेशनी—यदि आप ऐसा मानते हैं तो भी उसके लिये आज से अधिक उपयुक्त अवसर न आयेगा। राम वन को जाते हुए अपनी व्यक्तिगत सारी सम्पत्ति दान कर रहे हैं, इसी-लिए इतनी देर से कह रही हूँ कि छोड़िए इस समय बीज-परीक्षा को और अयोध्या जाइए। कदाचित् आपको भी दान मे इतना मिल जाए कि आजीवन हम और हमारी सन्तति बिना कुछ किए बैठे-बैठे सुख से खाया करें।

त्रिजट—इसी से तो सोच रहा हूँ कि जाना उपयुक्त होगा या नहीं। बिना कुछ किए बैठे-बैठे खाने से बुरा जीवन और कोई हो सकता है ?

सुकेशनी—(अप्रसन्नता से) परिश्रम कर जो उत्पन्न करे वह स्वयं के उपयोग में न लाएँ।........

त्रिजट—(बीच ही में) उपयोग में तो लाता हूँ, पर उतना ही, जितना नितान्त आवश्यक है।

सुकेशनी—(और भी अप्रसन्नता से) तो हम क्षत-वृत्ति नहीं ?

त्रिजट—यदि हम आवश्यकताओं को और घटा लें तो क्षत-वृत्ति न रहेंगे।

सुकेशनी—(अब दुःख से) नाथ नाथ, मैंने तो सदा आप की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया है। हमारी आवश्यकताएँ

विरंगे पाषाण पटे हैं, जो बड़ी व्यवस्था से पाटे गए हैं। चारों ओर पाषाण के ही बेलबूटे तथा बीच में फूल इत्यादि बने हैं। अलिन्द की धरती पर बैठने की गद्दी, तकियों से युक्त चौकियाँ तथा कई प्रकार की सजावट की वस्तुएँ हैं। अलिन्द में राम, सीता और लक्ष्मण खड़े हैं। इनके सामने एक ओर त्रिजट, यज्ञदत्त और वररुचि हैं। राम और लक्ष्मण ने वन-प्रस्थान के लिए राजसी वेष को त्याग वल्कल पहन लिए हैं। सीता अपनी राजसी वेष-भूषा में ही हैं। यज्ञदत्त और वररुचि की अवस्था प्रौढ़ता को पार कर चुकी है। उनके केश यत्र-तत्र श्वेत हो गए हैं। वे रेशमी अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण किए हैं। दान से मिला हुआ बहुत-सा सुवर्ण दोनों के निकट रक्खा है। चैत्य में ब्राह्मणों की भीड़ दीख पड़ती है जो दान में मिली हुई अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को सँभाल रहे हैं।]

यज्ञदत्त—हाँ, राजपुत्र, हम तीनों सहपाठी थे।

वररुचि—अवध के सर्वश्रेष्ठ गुरुकुल में पढ़े थे।

यज्ञदत्त—और (त्रिजट की ओर सङ्केत कर) ये त्रिजट उस गुरुकुल के सर्वोत्तम विद्यार्थी थे।

राम—अच्छा।

वररुचि—परन्तु समावर्तन संस्कार के एक दिन पूर्व इन्होंने कृषि करने का निश्चय किया।

यज्ञदत्त—ये विद्वान् हैं। पर हल-ग्राही पतित ब्राह्मण दान के अधिकारी नहीं।

वररुचि—हाँ, राजपुत्र, इन्होंने ब्राह्मणों के छहों श्रेष्ठ कर्मों को त्याग निकृष्ट वैश्य-वृत्ति ग्रहण की है।

राम—(त्रिजट से) कहिए, आर्य।

दूसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या के राजभवन में राम का प्रासाद।

समय—मध्याह्न।

[दाहिनी ओर अलिन्द ; बाईं ओर दूर पर बहती हुई सरयू और बीच में चैत्य का कुछ भाग दिखाई देता है। चैत्य के पीछे राजभवन के कक्षों की भीतरी भित्ति दिखाई देती है। भित्ति में कुछ खिड़कियाँ हैं जो खुली हैं और जिनमें से सजे हुए कक्षों के कुछ भाग दिखते हैं। चैत्य की धरती श्वेत और श्याम पाषाणों से पटी है। अलिन्द की छत ऊँचे और स्थूल पाषाण के स्तम्भों पर स्थित है। इन स्तम्भों की चौकियों और भरणियों के पाषाणों पर खुदाव का काम है। चौकियाँ कमलाकार हैं और भरणियों के दोनों ओर गजमुख हैं। गजों की शुण्डें ऊपर उठकर छत को छू रही हैं। अलिन्द के पीछे की भित्ति पर सुन्दर चित्रकारी है। चित्र रघुवंश की अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के हैं। कहीं दिलीप गऊ की सेवा कर रहे हैं; कहीं उसी गऊ को सिंह दवाए हुए दिखता है और दिलीप तथा सिंह का सम्भाषण चल रहा है; कहीं स्वयंवर में इन्दुमती अज को वरमाला पहना रही है; कहीं रघु का दिग्विजय-प्रस्थान हो रहा है। कहीं रघु का युद्ध, कहीं रघु का यज्ञ, कहीं रघु के सर्वस्व दान और कहीं इस दान के पश्चात् मृत्तिका के पात्रों को सम्मुख रखे हुए रघु स्नातक कौत्स का अर्घ्य से सत्कार कर रहे हैं; ये दृश्य चित्रित हैं। अलिन्द की छत पर भी चित्रकारी है और उससे झूम आदि कई सजावट की वस्तुएँ झूल रही हैं। अलिन्द की धरती पर रंग-

सर्वश्रेष्ठ वृत्ति बताता है। उसमे चाहे अन्य वृत्तियों के समान बहुत बड़ा लाभ न हो, पर लाभ निश्चित है, अतः उसमें अन्य वृत्तियों के समान छूत नहीं। ऋग्वेद का कथन है—

'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वृत्ते रमस्व बहुमन्यमानः।'

राम—हाँ, इस वाक्य से 'वह वैश्यों की ही वृत्ति है', ऐसा सिद्ध नहीं होता। कोई भी वर्ण उसे कर सकता है।

त्रिजट—फिर, राजपुत्र, मैंने तो उसे समाज के लाभ के लिए यज्ञ रूप से किया है।

लक्ष्मण—कृषि-यज्ञ रूप से?

त्रिजट—हाँ, राजपुत्र, यज्ञ रूप से।

लक्ष्मण—यह कैसे, आर्य?

त्रिजट—यज्ञ शब्द यज् धातु से निकला है। आपको यह बताने की आवश्यकता नही कि यज्ञ का अर्थ है अर्पण करना। अत समाज के हित के लिये जो कुछ भी अर्पण किया जाता है, वह यज्ञ है। समाज की आवश्यकताएँ समय-समय पर परिवर्तित होने के कारण यज्ञ के प्रकारों मे भी परिवर्तन होने चाहिएँ। जिस यज्ञ मे समिधा काष्ठ का अग्नि मे हवन होता है उसका आरम्भ इसलिए हुआ था कि उस समय पृथ्वी वनों से परिपूर्ण थी। वनों को काटकर वन-काष्ठ भस्म करने पर ही पृथ्वी निवास तथा अन्य उपयोगों के लिए प्राप्त हो सकती थी। समिधा के साथ घृत और तिल आदि वस्तुएँ तो आहुति में इसलिए डाली जाती है जिससे समिधा शीघ्र भस्म हो सके।

सीता—और अब इस यज्ञ की आवश्यकता नही रह गई?

त्रिजट—मैं इसीलिए चुप था, राजपुत्र, कि मेरे सहपाठी यज्ञदत्त और वररुचि मेरे विरुद्ध जो-जो कहना चाहें, सब कह लें; तब मैं सब बातों का एक साथ उत्तर दे दूँगा। पहले इनसे पूछ लीजिए कि इन्हें और कुछ कहना है।

राम—(यज्ञदत्त और वररुचि से) बोलिए, द्विजश्रेष्ठ !

यज्ञदत्त—हम त्रिजट के विरुद्ध कुछ भी कहना नहीं चाहते। हमारा उद्देश्य केवल इतना ही है कि चौदह वर्ष के लिए वन-गमन के अवसर पर दिया गया आपका यह सर्वस्वदान सत्पात्रों को ही मिले, जिससे आपका कल्याण हो। हमने आपको सच्ची वस्तु-स्थिति से परिचित करा दिया, अब हमें कुछ नहीं कहना है।

वररुचि—(त्रिजट की ओर संकेत कर) और आप इन्हीं से पूछ लें कि हमने जो कहा है वह सत्य है या मिथ्या ?

[राम कुछ न कह प्रश्न-सूचक दृष्टि से त्रिजट की ओर देखते हैं।]

त्रिजट—राजपुत्र, मुझे अपने गुरुकुल का सर्वोत्तम विद्यार्थी बताकर चाहे मेरे दोनों सहपाठियों ने निष्पक्ष बात न कही हो, परन्तु मैं हल-ग्राही ब्राह्मण हूँ, यह सर्वथा सत्य है। समावर्तन के पश्चात् मैंने कृषि करने का निर्णय किया और गत चौबीस वर्ष से मैं कृषि ही कर रहा हूँ, यह भी सत्य है। परन्तु कृषि को मैं नीच वृत्ति और वैश्यों की ही वृत्ति नहीं मानता।

लक्ष्मण—तब ?

त्रिजट—ऋग्वेद में कृषि करने की सभी को आज्ञा है, वह केवल वैश्य करें यह ऋग्वेद नहीं कहता। साथ ही ऋग्वेद उसे

राज्य की भी सेवा कर रहा हूँ। और ऐसी पृथ्वी से भी जो कुछ मैं उत्पन्न करता हूँ, उसे बेचता नहीं। आहार, तथा बीज के लिए पर्याप्त धान्य रख शेष को मैं योग्य पात्रों में वितरण कर देता हूँ। मैंने अनेक प्रयोगों को कर बीज सुधारा है। नाना प्रकार के खाद्य बनाए हैं। और भी कृषि-सुधार के लिए न जाने कितनी योजनाएँ तैयार की हैं। मेरे इस प्रकार के वितरण से न जाने कितने कृषकों का बीज सुधरा है। मेरे बताए हुए खाद्यों से बहुत से कृषकों की उपज बढ़ी है। ये बातें कहाँ तक सत्य हैं, यह आप आर्य यज्ञदत्त और आर्य वररुचि से भी पूछ सकते हैं।

[राम—कुछ न कह प्रश्न-सूचक दृष्टि से यज्ञदत्त और वररुचि की ओर देखते हैं।]

यज्ञदत्त—हाँ, यह तो सत्य है।

वररुचि—मैं भी मानता हूँ कि सच है।

सीता—और ऐसा यज्ञ करनेवाला ब्राह्मण भी पतित माना जाता है?

त्रिजट—राजवधू, मैं प्रचलित यज्ञों में निमन्त्रित नहीं किया जाता; कोई मुझसे अनुष्ठान नहीं कराते, श्राद्ध नहीं, तर्पण नहीं; कोई मुझे दान नहीं देता।

यज्ञदत्त—हम विवाद में तो त्रिजट से नहीं जीत सकते, परन्तु इसमें हमें सन्देह नहीं है कि इनका ब्रह्मतेज हल ग्रहण करने से नष्ट हो गया है।

वररुचि—इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता।

त्रिजट—नहीं, राजवधू, आज भी इसकी आवश्यकता है, क्योंकि अभी वन आवश्यकता से अधिक हैं। परन्तु जन-संख्या बढ़ रही है, अतः इसी के साथ अब कृषि-यज्ञ की भी आवश्यकता है।

लक्ष्मण—ऐसा क्यों ?

त्रिजट—क्योंकि मनुष्य शनैः शनैः माँसाहार छोड़कर अन्नाहारी होता जाता है। उसकी पाशविकता नष्ट होने के लिए यह आवश्यक भी है। वनों के काटने का कार्य मानवों के साथ मिलकर देवों तक ने किया। इसका भी ऋग्वेद में उल्लेख है। देव परशु ले लेकर पृथ्वी पर आए और उन्होंने वनों को काटा, यह ऋग्वेद का वाक्य है—'देवास. आवन् परशन् आजिघ्रन् वना वृश्चन्तो अभिविड्भिरायत'। उस समय की अवाश्यकता के अनुसार यदि परशु ग्रहण करना पतित कर्म न था तो इस समय की आवश्यकता के अनुसार हल ग्रहण करना पतित कर्म कैसे हो सकता है।

[राम यज्ञदत्त और वररुचि की ओर देखते हैं। दोनों कुछ न कहकर एक दूसरे की ओर देखने लगते हैं। सीता और लक्ष्मण कभी राम, कभी त्रिजट और कभी यज्ञदत्त और वररुचि की ओर देखते हैं। कुछ देर निस्तब्धता।]

त्रिजट—फिर, राजपुत्र, मैंने कृषि समाज-सेवा के लिए यज्ञ रूप से की है। और वह भी ऐसे वन्य-प्रदेशों में, जिसमें कृषि वृत्ति वालों से मेरी कोई प्रतिस्पर्द्धा न हो। इतना ही नहीं, उस भूमि को जोत-जोत कर मैं उर्वरा बनाता हूँ और इस

आपको दूँगा, जितनी की आप सँभाल और सेवा कर सकें।

त्रिजट—मै सहस्त्र गायों की सेवा-सँभाल कर सकता हूँ।

राम—इसके लिए मैं प्रमाण चाहूँगा।

त्रिजट—जो प्रमाण आप चाहें मैं देने को प्रस्तुत हूँ।

[राम विचारमग्न हो जाते हैं। सब उत्सुकता से एकटक राम की ओर देखते हैं। कुछ देर निस्तब्धता।]

राम—आपमे कितनी गाएँ रखने की शक्ति है, यह जानने के लिए मैं चाहूँगा कि आप अपने दण्ड को फेंके। जितनी दूर जाकर आपका दण्ड गिरेगा, उतने स्थान मे जितनी गाएँ खड़ी हो सकती हैं, उतनी मै आपको दे दूँगा।

त्रिजट—बहुत अच्छा। (अपने दण्ड को सँभाल बाईं ओर दूर पर सरयू के प्रवाह को देख, फिर दण्ड को देखते हुए) मेरा शरीर कृश है, शारीरिक बल से ही यदि तुझे फेकूँ तब तो तू चैत्य में ही गिर पड़ेगा; परन्तु परन्तु यदि मेरी आत्मा मे बल है, यदि मैंने दो युगों से कृषि मनसा-वाचा-कर्मणा सच्चे यज्ञ रूप से की है, यदि मेरा ब्रह्मतेज नष्ट न होकर बढ़ा है, यदि मैंने अपने धर्म का यथार्थ पालन किया है, तो तो तू, हे दण्ड! सरयू के इस पार नहीं, उस पार गिरना।

[कुछ देर त्रिजट एकटक दण्ड को देखता रहता है। राम को छोड़ सब लोग भौंचक से त्रिजट को देखते हैं। त्रिजट सरयू की ओर दण्ड को फेंकता है। दण्ड आकाश-मार्ग से जाता हुआ दिखता है। राम को छोड़ शेष व्यक्तियों के आश्चर्य की सीमा नहीं रहती जो उनकी मुद्राओं से व्यञ्जित होता है।]

त्रिजट—मुझमें ब्रह्मतेज है इसकी तो मैं परीक्षा दे सकता हूँ।

राम—(विचारते हुए) आर्य, आप ऐसे समय पधारे जब मैं सब कुछ दान कर चुका हूँ।

सीता—किन्तु, आर्यपुत्र, यदि आप इन्हें दान देने का निर्णय करें तो मैं अपने सारे आभूषण इन्हें दान मे दे दूँगी।

त्रिजट—यह दान तो मुझे स्वीकृत न होगा। दान लेने-वाले को सदा यह विचारना चाहिए कि वह दान किससे लेता है और किस वस्तु का।

राम—(विचारते हुए) देखिए, मेरे पास केवल एक वस्तु दान के लिए शेप है।

त्रिजट—कौन-सी राजपुत्र ?

राम—मेरी सहस्र गाएँ।

त्रिजट—(अत्यन्त प्रसन्नता मे) आहा! वे तो मेरे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होंगी। यदि मुझे ऐसा गोधन मिल जाय तब तो मेरा कृषि-यज्ञ............

यज्ञदत्त—(बीच ही मे) राजपुत्र, ये कभी सहस्र धेनुओं को सँभाल कर सकते है? उन गायों में से अधिकांश मर जाएँगी; आपको गो-हत्या लगेगी।

वररुचि—हाँ, हाँ।

राम—(विचारते हुए त्रिजट से) देखिए, आर्य, मैं आपको पतित ब्राह्मण तो नहीं मानता और न दान के अयोग्य ही। पर इस समय मैं गोदान ही दे सकता हूँ; साथ ही मैं उतनी गाएँ

उपरान्त आप लौटेंगे तब तक यदि जीवित रहा तो अपने कृषि-यज्ञ की प्रगति दिखाऊँगा।

लघु यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या के निकट की वनस्थली में त्रिजट के गृह का अलिन्द।

समय—सन्ध्या।

[दृश्य वैसा ही है, जैसा पहले दृश्य मे था। सुकेशनी इधर-उधर घूम रही है। बार-बार दाहिनी ओर के वन को देखती है। उसकी मुद्रा से ज्ञात हो जाता है कि वह किसी की प्रतीक्षा कर रही है। दाहिनी ओर से शीघ्रता-पूर्वक त्रिजट का प्रवेश।]

त्रिजट—सुकेशनी ! सुकेशनी !

सुकेशनी—(उसकी ओर बढते हुए) नाथ !

त्रिजट—बहुत राम से बहुत बड़ा दान लेकर आया हूँ।

सुकेशनी—(प्रसन्नता से) खुल गए भाग्य हम लोगों के।

त्रिजट—और जानती हो, दान में क्या मिला है ?

सुकेशनी—बिना आपके बताए मुझे कैसे ज्ञात हो ?

त्रिजट—कल्पना करो।

सुकेशनी—(विचारते हुए) रजत ?

त्रिजट— (राम से) राजपुत्र, भेजिए किसी को सरयू के उस पार। वह देख आए कि मेरा दण्ड सरयू के उस पार पहुँचा या नहीं।

राम—द्विजवर्य, जिस वेग से वह दण्ड गया है, उससे इसमें सन्देह ही नही रह जाता कि वह सरयू के उस पार पहुँच गया होगा। एक सरयू क्या, यदि आपने आज्ञा दी होती तो वह न जाने कितनी सरयू को पार कर सकता था। जिसने अपने धर्म का यथार्थ पालन किया है, वह विश्व में क्या नही कर सकता! क्षमा कीजिए, मैने आपकी इस प्रकार परीक्षा ली। सहस्र गाएँ आपकी भेट हैं।

यज्ञदत्त—(त्रिजट को आलिङ्गन कर गद्गद स्वर से) मैंने अपने सहपाठी को आज पहचाना। मुझे जो सुवर्ण राजपुत्र से मिला है, मैं तुम्हें भेंट करता हूँ।

वररुचि—(त्रिजट को आलिङ्गन कर गद्गद स्वर से) और मैंने भी तुम्हे आज ही जाना। राजपुत्र ने जो सुवर्ण मुझे दिया है, वह भी मैं तुम्हे भेट में देता हूँ।

त्रिजट—मित्रवर्य, मैं सुवर्ण क्या करूँगा? गउएँ तो मेरे उपयोग की वस्तु हैं।

यज्ञदत्त—(विचारते हुए) देखो, इन गायों और इस सुवर्ण से अब हम तीनों उस कृषि-यज्ञ को बढ़ाएँगे, जो तुम कर रहे हो।

वररुचि—हाँ, हाँ, यह यह ठीक है।

त्रिजट—मैं एकाकी था। ऐसे साथियों और ऐसे साधनों को पाकर मैं धन्य हुआ। (राम से) राजपुत्र, जब चौदह वर्षों के

त्रिजट—फिर वही बैठे-बैठे खाने की बात ! मैंने तुमसे कहा था न कि मैं वैसे जीवन को निकृष्ट मानता हूं, निकृष्टतम । धर्म के अनुसार वही जीवन श्रेयस्कर है जो श्रम से स्वेद बहाते हुए व्यतीत किया जाता है । एक उपनिषद् का वाक्य है—'अङ्गानां मार्जनं कृत्वा श्रमसंयमवारिणा ।'

सुकेशनी—किन्तु हमारे बच्चे, नाथ !

त्रिजट—उन्हें भी कर्मण्य होना चाहिए, अकर्मण्य नहीं ।

[नपथ्य मे गायों के रँभाने का शब्द सुन पड़ता है ।]

त्रिजट—(शीघ्रतापूर्वक दाहिनी ओर जाते हुए) लो ..लो, गोधन पहुँच गया । (प्रस्थान)

[सुकेशनी एक दीर्घ निश्वास छोड़ती हुई दाहिनी ओर देखती है ।]

यवनिका

उपसंहार

स्थान—अयोध्या के निकट की वनस्थली ।

समय—सायङ्काल ।

[बाई ओर तो त्रिजट के गृह का वही अलिन्द है । दाहिनी ओर दूर-तक लम्बे लम्बे गृहों की पंक्तियाँ दिखती हैं । यद्यपि ये गृह कच्चे हैं तथापि हैं बहुत-से । बीच मे निकट ही एक छोटा-सा मण्डप बनाया गया है । मण्डप पत्रों और पुष्पों की बन्दनवारों तथा मङ्गलकलशों से सुशोभित है । बीच में मृत्तिकानिर्मित कुछ चौकियाँ हैं । बीच की चौकी पर राम विराज-

त्रिजट—नही, नही, इससे........इससे बहुत बड़ी वस्तु है।

सुकेशनी—सुवर्ण ?

त्रिजट—नही, इससे भी बड़ी।

सुकेशनी—रत्न ?

त्रिजट—इससे भी .. ..इससे भी बड़ी।

सुकेशनी—तब क्या हो सकता है ?

त्रिजट—और कल्पना दौड़ाओ।

सुकेशनी—आप ही बताइये, मेरी समझ मे नही आता।

त्रिजट—गोधन, प्रिये एक सहस्र गाएँ।

सुकेशनी—(आश्चर्य से) गोधन ! . एक सहस्र गाएँ !

त्रिजट—हाँ, गोधन, एक सहस्र गाएँ।

सुकेशनी—परन्तु .... परन्तु नाथ, यह तो एक नवीन आपत्ति ले आए आप। इन एक सहस्र गायों की सेवा-सँभाल कौन करेगा ?

त्रिजट—मैं और तुम।

सुकेशनी—तो. ... तो जितना काम अभी करना पड़ता था उससे भी अधिक काम हो गया। (कुछ रुककर) और .. और इतने पर भी एक सहस्र गायों को हम सँभाल न सकेंगे।

त्रिजट—अब तो हमे साथी भी मिल रहे हैं। यज्ञदत्त, वररुचि दो पुराने सहपाठी मिले हैं। भविष्य में और प्राप्त होंगे।

सुकेशनी—परन्तु परन्तु नाथ, जहाँ दूसरे सुख से सुवर्ण, मणि कुछ ले-लेकर गए होंगे, जन्म भर सुख से बैठ-बैठ खाएँगे, वहाँ आप यह . ।

का ऐसा प्रभाव है कि जो योग्य पात्र नही है, जिन्हे सचमुच आवश्यकता नही है, वे यहाॅ अनुचित लाभ उठाने के लिए आते ही नही।

राम—अच्छा, यह यहाॅ की विशेषता है कि बिना मूल्य के वस्तुएॅ मिलने पर भी यहाॅ से कोई अनुचित लाभ नही उठाता।

भरत—फिर, महाराज, आर्य त्रिजट को दान इतना मिलता है कि किसी भी कार्य के लिए यहाॅ समृद्धि की कमी नहीं और व्यापारिक वृत्ति न रहने के कारण किसी के हृदय में किसी प्रकार की स्पर्द्धा की भावना भी नही है।

राम—तो आर्य त्रिजट जिस प्रकार का कृषि-यज्ञ करना चाहते थे वैसा ही यज्ञ कर रहे है।

भरत—अब तो कृषि-यज्ञ के साथ-साथ अन्य यज्ञों का भी आरम्भ हो गया है। विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल स्थापित हुआ है। परिश्रमालय और औषधालय इत्यादि चल रहे हैं।

राम—(त्रिजट से) तो, आर्य त्रिजट, आपने ससार के सामने एक नए प्रकार का यज्ञादर्श उपस्थित किया है और ब्राह्मणों के छहों कर्मो, अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह का सुन्दर पालन भी आप कर रहे हैं। राम राज्य में सदा इस प्रकार के यज्ञों की प्रतिष्ठा रहेगी।

त्रिजट—परन्तु यह सब मैं राम कृपा से ही तो कर सका और कर रहा हूॅ।

[कुछ देर निस्तब्धता]

त्रिजट—तो महाराज चलकर हमारी यज्ञशाला के भिन्न-

-मान हैं। उनके निकट की दूसरी चौकी पर सीता। उसी पंक्ति में तीन चौकियाँ और हैं जिन पर भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न बैठे हुए हैं। और बाईं ओर भी ऐसी ही चौकियों के पंक्ति पर त्रिजट, सुकेशनी, यज्ञदत्त, वररुचि तथा त्रिजट के अन्य साथी पुरुष और स्त्रियाँ हैं। राम और लक्ष्मण की वेष-भूषा राजसी है। त्रिजट और यज्ञदत्त तथा वररुचि के केश अब सन के समान श्वेत हो गए हैं।]

भरत—(राम से) हाँ, महाराज, गत चौदह वर्षो मे आपने भूभार उतार दुष्टों से पृथ्वी को रहित किया तो अवध मे आर्य त्रिजट ने भी कम काम नही किया है। आप इन्हे एक सहस्र गउएँ दे गए थे। चौदह वर्षो में उनकी संख्या सवा लक्ष पहुँच गई है। जो वृषभ जनमे उनसे योजनों ऊसर भूमि उपजाऊ बनाई गई, जहाँ अन्न, कार्पास, इक्षुदण्ड, शाक इत्यादि उत्पन्न किए जाते हैं। न जाने कितने नए-नए खाद्य बनाकर तथा सिंचन की व्यवस्था कर इन वस्तुओं की उपज का परिमाण बढ़ाया गया है। उद्यान लगाए गए है। उनसे फल और औषधियों की अनेक जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं। गोवंश का भी सुधार किया गया है। अब जो गाएँ होती हैं वे पहले की गायों से बहुत अधिक दूध देती हैं। वृषभ बहुत अधिक परिश्रमी होते हैं। कार्यकर्ताओं को उनकी आश्यकताओं की पूर्ति के अनुसार देकर शेष उत्पत्ति भी बेची नही जाती, वह योग्य पात्रों को बाँट दी जाती है।

राम—परन्तु पात्रापात्र का निर्णय कैसे होता है?

भरत—महाराज, कार्यकर्ताओं के त्यागमय जीवन और कार्य

समझौता

[एक प्रहसन]

—लेखक—

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

भिन्न विभागों का तो निरीक्षण करें।

"म—(उठते हुए) अवश्य ... ...अवश्य।

[शेष सब लोग भी खड़े हो जाते हैं।]

यवनिका

———

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

परिचय

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' हिन्दी, उर्दू और पंजाबी के प्रसिद्ध एकांकी नाटककार और कहानीलेखक हैं। यह हमारे लिए गौरव की बात है कि 'अश्क' पंजाब के निवासी हैं। हिन्दी में कहानी और नाटक के अतिरिक्त आपने कविताएँ भी लिखी हैं 'अश्क' स्वाभावतः बुद्धिमान् और परिश्रमी लेखक हैं। ये अपनी रचनाओं को लिखने के बाद परिश्रम करके सुधारते हैं और जब तक उस रचना में इनकी कला पूर्ण रूप से नहीं उभर आती तब तक वे उसमें संशोधन और परिमार्जन करते रहते हैं।

'अश्क' के नाटकों में जीवन की कटु अनुभूतियों का एक विशेष दर्द रहता है। आपके पात्र अपने स्वाभाविक आचरण, मनोरञ्जन, और वास्तविकता से उठते हैं। प्रत्येक पात्र जीवन का एक विशेष व्यंग्य लेकर आता है और साफ सुथरी भाषा द्वारा समाज के ऊपर अपना आघात उपस्थित करता है। व्यावहारिकता और सरसता आपकी भाषा का सबसे विशेष गुण है।

'अश्क' से हिन्दी संसार को बहुत आशाएँ हैं। पिछले दिनों से आप रेडियो छोड़कर सिनेमा लाईन में चले गए हैं। आपके उर्दू और पंजाबी के अतिरिक्त हिन्दी में जय-पराजय, छठा बेटा,

पात्र-परिचय

डाक्टर वर्मा	दाँतों का डाक्टर
डाक्टर कपूर	आँखों का डाक्टर
डाक्टर वृजलाल	रक्त आदि का निरीक्षण करनेवाला डाक्टर
श्रीमती वर्मा	डा० वर्मा की धर्मपत्नी
मि० परतूलचन्द	श्रीमती वर्मा का छोटा भाई
बलचरण	डा० वर्मा की दूकान का नौकर
मुंडू	डा० वर्मा के घर का नौकर

स्वर्ग की झलक, देवताओं की छाया में तथा अन्य कई नाटक हैं। अंकुर नाम से आपका एक कहानी-संग्रह भी निकला है।

"समझौता" एक प्रहसन है। डाक्टर वर्मा की दाँतों की दूकान है जो ठीक २ नही चलती। वे एक आँखों के डाक्टर से समझौता करते है और चाहते हैं कि डाक्टर कपूर समय समय पर दाँतों के डाक्टर को २५ प्रतिशत कमीशन लेकर रोगियों को भेजा करें। इसी के अनुसार डाक्टर वर्मा अपने एक साले को डा० कपूर के पास भेजते हैं जिससे कि उसे दाँतों के रोगियों को भेजने की याद रहे। डा० वर्मा का साला हृष्ट-पुष्ट और नीरोग है। डा० कपूर उसे देखकर उसकी आँख में दवा डाल देता है। परतूल, डा० वर्मा का साला, जिस समय दवा डलवा कर लौटता है तो उसको मालूम होता है कि उसकी एक आँख फूट जायगी। डा० वर्मा को बड़ी चिन्ता होती है और वे डा० कपूर को बहुत गालियाँ देने लगते हैं। इस प्रकार एक दूसरे को सहायता देने का समझौता टूट जाता है। नाटक प्रहसन की अपेक्षा व्यंग्य अधिक है।

समझौता

पहला दृश्य

स्थान—डा० वर्मा की सर्जरी।

समय—सुबह आठ बजे।

[एक मुस्ततील (आयताकार) कमरा है जिसमें सामने की दीवार में दायीं ओर एक दरवाजा है, जो सर्जरी को जाता है। उस पर इस समय मूँगिया रंग के कपड़े का पर्दा लगा हुआ है।

उसी दरवाजे के साथ बायीं तरफ को हटकर दीवार के साथ एक कुर्सी लगी है जिसके सामने बड़ी मेज पड़ी है। मेज पर दायीं ओर एक रैक में कुछ पुस्तकें चुनी रखी हैं। उसके साथ ही किनारे पर दन्त-चिकित्सा से सम्बन्ध रखने वाली कुछ पत्रिकाएँ एक दूसरी के ऊपर करीने से चुनी हुई हैं। मेज के बायें किनारे पर दीवार के साथ एक 'स्टेशनरी कैबीनेट' है, जिसमें कागज-पत्र आदि रखे हुए हैं।

बायीं दीवार मे एक दरवाजा है जो बाहर बाजार की ओर बरामदे में खुलता है। इस पर भी वैसा ही पर्दा पड़ा हुआ है।

दीवारों पर दाँतों से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न प्रकार के चित्र और

कहाँ ? वे तो धँसाधस अन्दर चले आते हैं। वेटिङ्ग रूम में न होऊँ तो अन्दर सर्जरी तक बढ़ आते हैं। मैंने समझा था कि कोई मोटा और सभ्य पेशेन्ट है।

डा० कपूर—मोटा और सभ्य ! . (हँसता है।)

डा० वर्मा—(कुर्सी की ओर संकेत करके) बैठो, क्या हालचाल हैं आजकल ? [स्वयं भी अपनी जगह पर बैठ जाता है और पुस्तक को परे सरका देता है।]

डा० कपूर—(मेज से कुंजियों का गुच्छा उठाकर अंगुली में घुमाते हुए) किसी तरह बीत रही है।

डा० वर्मा—यहाँ तो भाई यदि यही हाल रहा तो . मैं सोच रहा हूँ कि इस सब साज़-सामान को उठाने के लिए भी दो सौ रुपये दरकार हैं। .. और फिर दो महीने का किराया मालिक-मकान का सिर पर हो चुका है।

डा० कपूर—दो महीने का ? (कुंजियों के गुच्छे को मेज पर रख कर टाँगें हिलाता है।)

डा० वर्मा–हाँ-हाँ, दो महीने का—पूरे एक सौ बीस रुपये। मैं कहता हूँ, यार तुम बड़े अच्छे रहे। अभी दो वर्ष तुम्हें प्रेक्टिस आरम्भ किए नहीं हुए कि चल निकले हो और फिर कालेज के बाद दो चार वर्ष घूम फिर कर जो आनन्द उड़ाए वे घाते में। यहाँ तो जबसे डिग्री ली है, पड़े उसकी जान को रो रहे हैं। (उठकर कमरे में घूमता है।)

डा० कपूर—तो स्थान क्यों नहीं बदल लेते ?

डा० वर्मा—(रुककर) पहले इस खयाल मे रहे कि शुरू शुरू

मॉटो टँगे हैं। सामने की-दीवार पर तीन मॉटो साफ दिखाई देते हैं।

"मुँह शरीर का दरवाजा है, उसकी रक्षा करो।"

"रोगी दाँत क़ब्र खोदने वाले फावड़े हैं।"

"७५ प्रतिशत बीमारियाँ रोगी दाँतों से फैलती हैं।"

डाक्टर वर्मा चुपचाप कुर्सी पर बैठे हैं। मेज पर कुहनियाँ टेककर और हथेली पर ठोड़ी रखे सोच रहे हैं। आयु कोई बत्तीस वर्ष, किन्तु बालों में अभी से सफेदी आ गई है। एक पुराना सूट सफ़ाई और सावधानी के साथ पहने हुए हैं।]

(बाहर घंटी बजती है।)

[डाक्टर वर्मा रैक में से जल्दी से एक मोटी सी पुस्तक सामने रखकर योंही मध्य से खोल लेते हैं और मेज पर कुहनी टेककर बड़ी तन्मयता से उसके अध्ययन में निमग्न हो जाते हैं।]

(घंटी फिर बजतीहै।)

डा० वर्मा—(दृष्टि पूर्ववत् पुस्तक पर जमाए हुए) आ जाइये।

[बायीं ओर दरवाजे का पर्दा उठाकर डा० कपूर प्रवेश करते हैं।]

डा० कपूर—हैलो वर्मा।

(डा० वर्मा चौंककर पुस्तक से नजर उठाते हैं।)

डा० वर्मा—ओ........(खड़े होकर हाथ बढ़ाते हैं।)—अरे तुम हो कपूर! मैंने समझा कोई पेशेन्ट (Patient) है।

(दोनों हाथ मिलाते हैं।)

डा० कपूर—मोटा पेशेन्ट, एँ!

(हाथ हिलाते हुए क़हक़हा लगाते हैं।)

डा० वर्मा—साधारण रोगियों को घंटी बजाने की तमीज़

डा० वर्मा—उनमें जो किसी योग्य हैं, वे शिमले चले जाते हैं।

डा० कपूर—और कालेज !

डा० वर्मा—(जैसे निराशा की सीमा को पहुँचकर) उनमें छुट्टियां हो जाती हैं।

[जाकर अपने स्थान पर बैठ जाता है। कुछ क्षण के लिए खामोशी, जिसमें डा० वर्मा हथेली पर मस्तक रखकर सोचते हैं और डा० कपूर बेखबरी में टाँगें हिलाते हैं और मेज से कुंजियों का गुच्छा उठाकर अंगुली में घुमाते हैं।]

डा० कपूर—(जैसे सहसा कोई बात सूझ गई हो) मेरा खयाल है आजकल तो कालेज खुल चुके हैं।

डा० वर्मा—हाँ खुल चुके हैं, पर बात वास्तव में यह है कि कालेजों में प्रतिवर्ष नये छात्र आते हैं। चाहिए तो यह कि हर साल दाखिले के आरम्भ ही में खूब प्रापेगंडा† किया जाए ताकि नए छात्र भी नाम से परिचित हो जाएँ, पर प्रचार के लिए चाहिए रुपया और रुपया (जेबों से खाली हाथ निकालता है और हँसता है।) यहाँ नदारद है।

[डाकर बाहर बरामदे में से ही पर्दा उठाकर समाचार-पत्र फेंक जाता है। कौच पर बैठे-बैठे ही डा० कपूर उसे उठा लेते हैं।]

डा०वर्मा—वैसे मेरी दुकान ढब पर स्थित है। सच पूछो तो छः कालेज इसके समीप हैं। यदि कहीं ठीक ढंग से इनमें प्रचार हो जाए, तो वारे न्यारे हो जाएँ, पर होता है यह, कि जब तक कोई लड़का बार-बार इधर से गुजरने पर मेरे नाम का परिचय पाता है कि उसकी शिक्षा समाप्त हो जाती है और यह फ़स्ट

† प्रापेगंडा—प्रचार

में तो समस्त लाहौर के रोगी इधर फट पड़ने से रहे, और फिर ऐसा प्रतीत हुआ कि बस अब चल ही निकलेंगे। पर इधर जब गर्मियाँ शुरू हुई हैं.....

डा० कपूर—किन्तु उधर तो गर्मियों में सब वैसे ही चलता है।

डा० वर्मा—सरक्यूलर रोड की बात करते हो। भाई भाग्य के बली हो कि पहले ही अच्छी जगह डेरा जम गया। नित्य नया मरीज़ पड़ता है। स्टेशन से सीधा रास्ता। बाहर से जो लोग लाहौर के निपुण डाक्टरों से चिकित्सा कराने आते हैं, वे तुम्हारे यहाँ ही तो फँसते हैं। उधर की क्या बात है? काम ख़राब हो जाए तो चिन्ता नहीं, बिगड़ जाए तो चिन्ता नहीं, जब रोगी को पता चलता है तो वह लाहौर से बीसों मील दूर होता है। यहाँ तो ऐसी मनहूस जगह से पाला पड़ा है कि ज़रा भी काम ख़राब हो जाए तो दस दस दिन तक मरीज़ जान खा जाता है, मानों फ़ीस देकर उसने सदैव के लिए हमें खरीद लिया हो। (बेज़ारी से सिर हिलाकर फिर घूमता है।)

डा० कपूर—(जैसे विनम्र गर्व के साथ) भाई दूर के ही ढोल सुहाने प्रतीत होते हैं। रोगी तो वहाँ काफी आते हैं, इसमें सन्देह नहीं। पर अधिकांश ऐसे, जिन्हें तुम अपने वेटिंग रूम में भी पग न धरने दो। तुम्हारे इधर तो मोटी आसामियाँ फँसती हैं।

डा० वर्मा—(रुककर) मोटी! (विषाद से मुस्कराता है।) उसके लिए क्या माल† उठ गई है?

डा० कपूर—लेकिन सेक्रेटेरियेट* तो है।

---

† माल रोड। *सरकारी दफ्तर

उसकी कुछ आवश्यकता हुई है। तुम तो जानते हो हम डाक्टरों को प्रचार करने का सर्वथा निषेध है।

डा० वर्मा—पत्र के दो पृष्ठ इधर भी दो।

[कपूर समाचार-पत्र के बीच के दो पृष्ठ निकाल कर देता है और डा० वर्मा बड़ी तन्मयता से उनके अध्ययन में विलीन हो जाते हैं।]

डा० कपूर—(पत्र पढ़ना छोड़कर) मैं कहता हूँ, दस वर्ष तक जो ऐश किए वे मृत्यु-पर्यन्त स्मरण रहेंगे। कालेज के बाद भी कुछ ऐसा बुरा नहीं रहा, पर अब तो जबसे यह प्रैक्टिस का बन्धन पड़ा है, जीवन ही दूभर हो गया है।

डा० वर्मा—(समाचार-पत्र से दृष्टि उठाकर) मैं तो अब भी कालेज का समां बाँध दूँ, पैसा चाहिए।

(दोनों फिर तन्मय होकर अखबार पढते हैं।)

डा० वर्मा—(पत्र पढना छोड़कर) बात यह है कि तुम्हारे यहाँ नित्य नये रोगी आते हैं और फिर आँख, नाक, कान, मंदाग्नि, अतिसार, कुष्ठ, ज्वर, यक्ष्मा और न जाने किस-किस की चिकित्सा करने वाली एक ही एम० बी० बी० एस की डिग्री तुम्हारे पास है। यहाँ तो बस कोरे डेंटिस्ट* है और दाँतों का डाक्टर, तुम जानो किसी को पेट-दर्द की भी दवा नहीं दे सकता है। (फिर समाचार-पत्र पर दृष्टि जमा देता है।)

डा० कपूर—कम्बख्त कोई ऐसी औषधि भी नहीं कि एक दाँत उखाड़ते समय दूसरे पर लगा दी जाए, तो उसे भी उखाड़ने की नौबत आ जाए।

---

*डेंटिस्ट—दाँतों के डाक्टर।

ईयर के फूल*—इन्हें तो इतनी भी समझ नहीं कि निस्बत रोड और अनारकली में क्या अन्तर है। बस जिन लोगों के नाम प्रान्त में प्रसिद्ध हैं उनके ही यहाँ वे जाते हैं फिर चाहे वे उल्टे उस्तरे से ही उन्हें मूँड डालें। यहाँ तो भाई चाहिए प्रापेगंडा—निरन्तर प्रापेगंडा।

[डा० कपूर समाचार-पत्र पढ़ने लगते हैं, पर अन्तिम शब्द सुनकर उसे परे कर देते हैं।]

डा० कपूर—ये सब तो भाई दिल को समझाने की बातें हैं, नहीं हम कौन-सा प्रापेगंडा करते हैं। तुम तो फिर भी दाँतों के सर्वश्रेष्ठ डाक्टर होने का, अमेरिकन रीति से दाँत लगाने का, दाँतों की चिकित्सा में निपुणता रखने का विज्ञापन दे सकते हो, पर हमें तो सिरे से विज्ञापन देने की आज्ञा ही नहीं और फिर ले-दे कर चार ही तो दाँतों की बीमारियाँ हैं। यहाँ, इतनी, कि गिनती ही नहीं। करना भी चाहें तो किस-किस का प्रचार करें। (पत्र पर दृष्टि जमा देता है।)

डा० वर्मा—क्यों तुम अपने आई-स्पेशलिस्ट† होने का प्रचार नहीं करते? मैंने स्वयं तुम्हारे नौकर को विज्ञापन बाँटते देखा है।

डा० कपूर—(समाचार-पत्र परे हटाकर) वह (जरा हँसता है।) वह तो मैंने अभी ऐनकों का काम आरम्भ किया है न, इसलिए

---

*कालेज के पहले वर्ष में जो छात्र जाते हैं उन्हें ऊँची श्रेणियों के छात्र व्यङ्ग से fool अर्थात् मूर्ख कहते हैं।

†आई स्पेशलिस्ट—आँखों के विशेषज्ञ-चिकित्सक।

लोग मुझे जान भी गए हैं। ये दो चार गर्मियों के महीने ठीक नही बीतते, सो इनके डर से मैं अब यह दुकान छोड़ना नही चाहता। इस सम्बन्ध में मैं तुमसे कुछ सहायता की आशा रखता हूँ।

डा० कपूर—मैं प्रस्तुत हूँ, कहो मैं क्या कर सकता हूँ।

डा० वर्मा—देखो तुम्हारे पास विभिन्न व्याधियों मे ग्रसित कई तरह के रोगी आते हैं। यह बिल्कुल सम्भव है कि उनमें से कुछ न कुछ को दाँतों का भी कष्ट हो। तुम उनसे मेरे नाम की सिफारिश कर सकते हो।

डा० कपूर—मैं अवश्य ऐसा करूँगा।

डा० वर्मा—ठहरो। (बढकर मेज के दराज से कार्ड निकालकर डा० कपूर की ओर बढाते हुए)—बात यह है कि यह कार्ड तुम रक्खो। जिस किसी से मेरे नाम की सिफारिश करो उसे, अपना हस्ताक्षर करके, एक कार्ड दे दो। मै उससे जो फीस लूँगा, उसमें से देखो कारोबार आखिर कारोबार है .. २५ प्रतिशत कमीशन तुम्हें दे दूँगा।

डा० कपूर—यह सब व्यर्थ है, कमीशन वमीशन तुम रहने दो। वैसे मै भरसक तुम्हारे लिए प्रयत्न करूँगा। यदि किसी को आवश्यकता न भी हो तो भी उसे. ... कम-से-कम दाँत साफ करवाने की जरूरत अश्वय ही महसूस करवा दूँगा। तुमसे यह तो सीख ही लिया है कि ७५ प्रतिशत रोग खराब दाँतों से फैलते हैं। (दायीं ओर के एक मॉटो की ओर संकेत करता है और हँसता है।)

[क़हक़हा लगाता है और फिर उठकर नपे तुले पाँवों से कमरे में घूमता हुआ अख़बार पढ़ता है। डाक्टर वर्मा जैसे एक एक ख़बर को कंठस्थकर रहे हैं।]

डा० कपूर—(समाचार-पत्र बन्द करके और मेज़ के पास आकर) मैं कहता हूँ वर्मा, यदि ऐसी दवाई तुम्हारे पास होती तो फिर तुम्हारे सारे रोगी अपने सब दाँत उखड़वाए बिना, तुमसे छुटकारा न पा सकते।

[फिर हँसता है। डाक्टर वर्मा इस हँसी में योग नहीं देते। उनकी दृष्टि जैसे अख़बार के पृष्ठों को छेदकर मेज़ को छेदने का प्रयास कर रही है।]

डा० कपूर—(फिर रुककर) अच्छा यह चैम्बरलैन साहब फिर रोम जा रहे हैं, अब किस चैकोस्लोवाकिया की बारी है ?

[डा० वर्मा कोई जवाब नहीं देते। डा० कपूर वहीं खड़े-खड़े समाचार-पत्र में तन्मय हो जाते हैं।]

डा० वर्मा—(अचानक उठकर और कपूर के पास जाकर, उसके कंधे पर हाथ रखते हुए) देखो कपूर, तुम मेरे मित्र हो।

(डा० कपूर समाचार-पत्र बन्द कर देते हैं।)

—हम दोनों बचपन में इकट्ठे खेले, कूदे और पढ़े हैं और तुमसे मेरा कुछ पर्दा भी नहीं।

(डा० कपूर उत्सुक दृष्टि से वर्मा की ओर देखते हैं।)

—इसीलिए मैं यह बात तुमसे कहने का साहस कर रहा हूँ। देखो यदि कुछ अच्छी न लगे तो ख़याल न करना।

डा० कपूर—कहो-कहो !

डा० वर्मा—बात यह है कि आय का जो हाल है उसका पता तुम्हें लग ही चुका है। अब छः वर्ष इसी जगह बीत गए हैं। कुछ

अब इसमें भावुकता के लिए कोई स्थान ही नहीं।

डा० वर्मा—तुम्हारे नाम की ?

डा० कपूर—हाँ, हाँ। तुम्हारे यहाँ जो रोगी ऐनक लगवाना चाहें अथवा जिनकी नज़र कुछ कमज़ोर हो, उनसे मेरा नाम ले सकते हो। (जेब से कार्ड निकालता है।)

—और यह लो कार्ड, इस पर केवल रायल आप्टीशीयन्ज़ (Roval Opticians) ही लिखा है। मैं अपने नाम को इस काम के साथ नही लगाना चाहता। बस, तुम इस कार्ड के पीछे हस्ताक्षर करके उस व्यक्ति को दे देना। मै तुम्हे २५ के बदले ३० प्रतिशत कमीशन दूँगा।

डा० वर्मा—तुम तो उपहास करते हो।

डा० कपूर—नही उपहास कैसा, मै सच कहता हूँ। अरे इसमें लगता ही क्या है, लाभ ही लाभ है। तुम्हें तो फिर भी कुछ परिश्रम करना पड़ता है, यहा तो जापान सलामत रहे .. (कहकहा लगाता है।)

डा० वर्मा—अच्छा, अच्छा पर कमीशन २५ ही रहने दो।

डा० कपूर—ठीक। (समाचार-पत्र मेज़ पर फेंक हाथ से हाथ मिलाता है।)—तो मुझे अब चलना चाहिए, रोगियों के आने का समय हो गया होगा।

डा० वर्मा—तो आपस में यह समझौता हो गया।

डा० कपूर—(चलता हुआ) हां, हाँ।

[डा०वर्मा उसके साथ-साथ दरवाज़े की ओर जाते हैं। दरवाज़े पर पहुँच कर डा० कपूर हाथ मिलाकर चले जाते हैं।]

डा० वर्मा—(उदास होकर) तो तुम भेज चुके।

डा० कपूर—नहीं, मैं ज़रूर भेजूँगा, पर यह कमीशन का झगड़ा रहने दो।

डा० वर्मा—(जैसे समझाते हुए) देखो भाई, यह तो कारोबार है। माना तुम इन छोटी-छोटी बातों की परवाह नहीं करते। घर से खाते-पीते सम्पन्न आदमी हो। रोगी भी तुम्हारे यहाँ खूब आते हैं और यह साधारण सी रकम तुम्हारे लिए कोई महत्त्व नही रखती। पर तुम्हारे मित्र के लिए तो रख सकती है। तुम्हे रुपये की इतनी आवश्यकता न सही...... ..

डा० कपूर—तुम्हें किस कम्बख्त ने कहा है कि मुझे रुपये की आवश्यकता नही। घर से खाती-पीता हूँ तो क्या? मां-बाप ने शिक्षित बना दिया, गुण सिखा दिया, अब कमाओ और खाओ। रोगी अवश्य आते हैं, पर यहाँ सदैव दीवाला पटा रहता है। आय दो है, तो खर्च चार ......पर अब इतना भी क्या गया गुज़रा हूँ कि तुमसे कमीशन लूँगा।

डा० वर्मा—भाई इसमे भावुकता की क्या वात है? यह तो कारोबार है! (तनिक धीमे स्वर में) और फिर तुम कोई कमीशन के लिए थोड़े ही मेरे नाम को सिफारिश करोगे, वह तो तुम मित्र के नाते...........

डा० कपूर—नहीं, नहीं। देखो मैं एक तरह से कमीशन ले सकता हूँ।

[डा० वर्मा उत्सुक नजरों से डा० कपूर की ओर देखते हैं।]

—और वह यह कि तुम मेरे नाम की सिफारिश करो।

कोने में एक पलंग बिछा है। दूसरा पलंग दायीं ओर दीवार के साथ लगा है।

दायीं ओर बायीं दीवारों में खूँटियाँ लगी हैं, जिन पर कुछ कपड़े टँगे हुए हैं।

कमरे की छत पर लटकते हुए एक बिजली के लट्टू की धीमी रौशनी से कमरा प्रकाशित है।

पर्दा उठते समय कमरा बिलकुल खाली है। सीढ़ियों से डा० वर्मा की आवाज़ आती है]—

—शीला, शीला!

श्रीमती वर्मा—(बायीं ओर के कमरे के अन्दर से) आई!

(सीढ़ियों की ओर से डा० वर्मा प्रवेश करते हैं।)

डा० वर्मा—(कमरे को खाली देखकर) इधर भी नहीं, आखिर किधर हो? (तनिक क्रोध से) शीला, शीला!

श्रीमती वर्मा—(उसी कमरे से) कह तो रही हूँ आई, आई!

डा० वर्मा—आई कहाँ, जाने तुम रहती कहाँ हो? कभी समय पर मैंने तुम्हें यहाँ न पाया। दिन भर का थका-माँदा दूकान से आता हूँ, पर तुम्हारा

श्रीमती वर्मा—(उसी कमरे से) मैं कहती हूँ आते ही यह शोर क्या मचा दिया? तीन-तीन संदेश तो दिन भर में मैंने भेजे। क्षण भर के लिए आपसे आया न गया, रास्ता देखते-देखते आँखें थक गईं। [स्वेटर बुनती हुई दरवाजे को पाँव से ठेलकर प्रवेश करती है।]—अब आए समय पर आने वाले।

डा० वर्मा—(कोट उतारते हुए व्यंग से) मेरा रास्ता देखते-देखते

डा० वर्मा—(दरवाज़े में खड़े-खड़े सम्भवतया बाहर जाते हुए डा० कपूर को लक्ष्य करके ज़रा ऊँचे) तो ख़याल रखना।

डा० कपूर—(बाहर से) तुम भी।

डा० वर्मा—क्यों नही, क्यों नही, परमात्मा ने चाहा तो, कल ही तुम्हे कुछ-न-कुछ कमीशन मेरे यहाँ भिजवाना पड़ेगा।

डा० कपूर—(बाहर से) शायद तुम्हे मुझे भिजवाना पड़े।

(बाहर से कहकहे की आवाज़ आती है।)

पर्दा

दूसरा दृश्य

स्थान—डा० वर्मा के घर का कमरा।

समय—रात के ६ बजे।

[कमरा उसी तरह का है जिस तरह का पहले दृश्य मे, (वास्तव में एक कमरे ही से दोनों दृश्यों का काम लिया जा सकता है) सामने का दरवाज़ा सीढियों मे खुलता है और बाहर की ओर उस दरवाज़े के साथ ही रसोई है, और यदि दरवाज़ा खुला हो तो दायीं ओर के रसोई-घर से आने वाली रौशनी भी दृष्टिगोचर होती है। बायीं दीवार मे स्टेज के किनारे का दरवाज़ा एक दूसरे कमरे को जाता है।

कमरे से एक ही समय मे खाने के और सोने के कमरे का काम लिया गया है। सीढियों को जाने वाले दरवाज़े के साथ ही बायीं ओर को सामने एक गोल मेज़ लगा है, जिसका मेज़पोश मैला हो गया है। उसके इर्द-गिर्द चार-पाँच कुर्सियाँ पड़ी हुई हैं। मेज़ के साथ बायीं ओर सामने की दीवार के

डा० वर्मा—देखो शीला, अब बस करो। मैं अब झगड़ा करने के मूड* (Mood) में बिलकुल नहीं, मैं आज बहुत प्रसन्न हूँ।

श्रीमती वर्मा—(पास आकर कुछ नरमी से) कहिए कोई सेट† मिला ?

डा० वर्मा—(कुर्सी पर बैठकर बूट उतारते हुए) सेट ! तोबा करो, एक एक्स्ट्रेक्शन ‡(Extraction) तक भी नहीं, पर स्कीम मैंने वह सोची है कि ऐक्स्ट्रेक्शनों और सेटों की भरमार हो जाए।

श्रीमती वर्मा—(मुँह लटक जाता है) बस, बस रहने दो अपनी स्कीमें। सुन-सुन कर कान पक गए। पैसा तो कभी आता नहीं उल्टा पास से ही कुछ चला जाता है।

डा० वर्मा—मैं कहता हूँ

श्रीमती वर्मा—अब रहने भी दीजिए अपनी स्कीमें अपने पास। (नौकर को आवाज देती है।) वे मुंडू, ला हाथ धुला इनके। (डा० वर्मा से) अब आराम से बैठकर खाना खाइये, और भी किसी को पेट की आग बुझानी है। और फिर इतना काम सिर पर है।

डा० वर्मा—मैं कहता हूँ वह स्कीम ही ऐसी है कि हींग लगे न फिटकरी रंग चोखा आए।

(मुंडू दरवाजे से झाँकता है।)

मुंडू—क्या कहा बीवी जी।

श्रीमती वर्मा—ऐ मुए सुना नहीं मैं तो हार गई इन

* मूड—चित्त की अवस्था।

† सेट—दाँतों का पूरा जबड़ा जो डेंटिस्ट बनाता है।

‡ ऐक्स्ट्रेक्शन—दाँत उखाड़ना।

आँखें पक गईं। मैं ग़रीब तो वह क्लर्क भी नहीं, जिसकी पत्नी कम-से-कम वेतन पाने के दिन तो प्रतीक्षा करती है।

श्रीमती वर्मा—(क्रोध से) तो क्या मैं . .

डा० वर्मा—नहीं-नहीं, आँखे तो तुम्हारी जरूर पक गई होंगी, पर आज यह कृपा क्यों ? (मुस्कराते हैं।)

श्रीमती वर्मा—दिन मे तीन बार लाला का आदमी फिर गया है। मालूम है, आज धमकी दे गया है कि रुपये न मिले तो सौदा देना बन्द कर दिया जायगा। (कोट ले जाकर खूँटी पर टाँगती है।)

डा० वर्मा—लाहौल विलाकुव्वत, मैंने समझा था कि आज तुमने स्वयं अपने हाथों से कोई सुस्वादु चीज तैयार की है। (हँसता है।)

श्रीमती वर्मा—(वापस आते हुए) और धोबी तीन बार आ चुका है। उसकी भावज लड़कर भाग गई है, उसे मनाने के लिए उसे जाना है। वह कहता है, मेरा हिसाब चुकता कर दो।

[डा० वर्मा केवल सीटी बजाते हैं और वास्केट उतारकर देते हैं।]

श्रीमती वर्मा—(वास्केट लेते हुए) और मेहतरानी अलग जान खाए जाती है। (जाकर वास्केट खूँटी पर टाँगती है) मैं कहती हूँ कौन से बड़े पैसे है उसके, क्या हम इतने से भी रह गए ? और फिर दूधवाला .

डा० वर्मा—(कानों पर हाथ रखते हुए) बस, बस कुछ कल के लिए भी उठा रक्खो।

श्रीमती वर्मा—मैं कहती हूँ कि यदि यह मुई दूकान नहीं चलती तो उसे उठा दो। इससे तो भीख माँग लेना अच्छा।

बहुत विज्ञापन-बाज़ी भी चाहिए। लोग यह देखते हैं कि डेंटल सर्जन है, और इसकी दुकान अनारकली के समीप है और बड़ी शान है। अन्दर से हाल कितना पतला है यह कोई नहीं जानता।

श्रीमती वर्मा—(संवेदना के स्वर में) मैं तो बीस बार कह चुकी हूँ कि कहीं कोई छोटी सी दुकान .. .

डा० वर्मा—वह इस नगर में तो सम्भव नहीं, और दूसरी जगह जाकर दुकान जमाने की हिम्मत अब मुझमें नहीं। यहाँ तो लोग फिर भी जान गए हैं। यह जो तीन चार महीने बीते हैं अवश्य खराब लगते हैं, पर धीरे-धीरे यह भी ठीक हो जाएँगे। बस तुम जरा सहायता .

श्रीमती वर्मा—पैसा मेरे पास . ....

डा० वर्मा—मैं कहता हूँ एक पैसा भी नहीं चाहिए।

[नौकर थाली परसकर लाता है, श्रीमती वर्मा हाथ के स्वेटर को कुर्सी की पीठ पर रखकर थाली को नौकर से ले, मेज पर रख देती हैं और वर्मा साहिब फिर कुर्सी पर बैठ जाते हैं।]

श्रीमती वर्मा—(नौकर से) चल बैठ रसोई में, जरूरत होगी तो तुम्हें बुला लेंगे।

(नौकर चला जाता है।)

(डा० वर्मा से) अब बताइये आप वह अपनी स्कीम। (मुस्कराती है।)

डा० वर्मा—मैं कहता हूँ तुम हँसती हो, सुनोगी तो दाद दोगी।

श्रीमती वर्मा—अब कहिए भी !

नौकरों के मारे कानों मे जाने रुई डाल रखते हैं. अब बिटर बिटर क्या तक रहा है ? जा पानी ला, इनके हाथ धुला।

डा० वर्मा—(पाँवों से बूट मेज़ के नीचे करके जूता पहनते हुए) हाँ जल्दी ला पानी चल! (पत्नी से) देखो वह स्कीम यह .

श्रीमती वर्मा—पर मैं एक कौड़ी भी न दूँगी। कानी कौड़ी भी नहीं। मेरे पास अब कुछ नहीं रहा। इस

डा० वर्मा—(जैसे थककर) ओ हो. मैं कहता हूँ एक पैसा भी तुम्हे देना नही पड़ेगा। (सहसा गम्भीर होकर और स्वर को कुछ करुण बनाकर) वास्तव मे शीला, मैंने तुम्हे बड़ा कष्ट दिया है, बार-बार अपनी व्यर्थ की स्कीमों के लिए तुम्हें परेशान करता रहा हूँ, आभूषण भी कोई बनवाकर देने के बदले (उठकर और पत्नी के कंधे पर हाथ रखकर) किन्तु मै स्वयं लज्जित हूँ शीला, आखिर मैं करूँ क्या ? तुम देखती हो, कभी पान नही चबाता, सिगरेट का व्यसन मुझे नही और अपव्ययता के नाम (पतलून की ओर संकेत करके) विवाह का ही सूट अब तक पहने चला जाता हूँ।

[नौकर पानी लाता है और डा० वर्मा हाथ धोकर तौलिए में पोंछते हैं।]

श्रीमती वर्मा—(नौकर से) जाओ थाली परस लाओ, और देखो चीनी की छोटी प्याली मे अदरक का अचार ले आना और एक चौथाई से आधा नींबू भी। (डा० वर्मा से) मिरच तो आप खाएँगे नहीं। (नौकर से) मिरच मिरच न लाना।

(नौकर चला जाता है।)

डा० वर्मा—मैं कह रहा था शीला कि मैं क्या करूँ, यह काम ही ऐसा है। दुकान चाहिए, टीम-टाम चाहिए. और फिर थोड़ी

आते हैं और बीच शहर के रोगी आते हैं इससे हमें क्या ? बात तो तब है कि

डा० वर्मा—(खाना खाते-खाते हाथ से रोककर और पानी के घूँट से ग्रास निगलकर) मैं कहता हूँ तुम बात तो सुनती नहीं कि ले उड़ती हो। स्कीम तो यही सोची कि वे सब रोगी हमारे यहाँ भी आने लगें।

(मूंडू जरा दरवाजा खोलकर झाँकता है।)

मूंडू—बाबू जी, रोटी लाऊँ।

डा० वर्मा—(चीखकर) तुम्हे किसने आवाज दी है ? बैठ जाकर। जब जरूरत होगी आवाज दी जाएगी। (पत्नी से, स्वर को सयत करके) और वह इस तरह कि डा० कपूर से मैंने कहा है—तुम्हारे रोगियों में से जिन्हें दाँतों का कष्ट हो उनसे तुम मेरे नाम की सिफारिश कर दो।

(श्रीमती वर्मा कहकहा लगाती है।)

श्रीमती वर्मा—मैं कहती हूँ (फिर हँसती है)—यही आपकी वह स्कीम थी जिसके लिए इतनी भूमिका बाँधी गई ? (फिर हँसती है)—राम राम ! मैं हँसते-हँसते मर जाऊँगी। भला कपूर को क्या पड़ी है कि वह आपके यहाँ रोगी भेजता फिरे।

डा० वर्मा—(खाना छोड़कर क़दरे तलखी के साथ) तुम सुनती तो कुछ हो नहीं. मैंने उसके साथ कमीशन तय किया है।

श्रीमती वर्मा—(तनिक गम्भीर होकर, जैसे समझने का प्रयास करके) कमीशन !

डा० वर्मा—हाँ कमीशन, २५ प्रतिशत। जिन रोगियों से वह

डा० वर्मा—इस तरह खड़े-खड़े क्या कहूँ। इधर कुर्सी पर बैठो, ध्यान से सुनो तो कुछ कहूँ।

श्रीमती वर्मा—(हँसती है) मै कहती हूँ आप कहिए। मै ध्यान से सुन रही हूँ। दिन भर बैठी-बैठी थक गई हूँ।

(डा० वर्मा खाना शुरू कर देते हे।)

डा० वर्मा—(ग्रास तोड़ते हुए) बात यह है कि आज कपूर आया था।

श्रीमती वर्मा—कौन कपूर ?

डा० वर्मा—डा० कपूर! वही जो स्कूल मे मेरे साथ पढ़ता था। जिसने पॉच के बदले दस वर्ष मे एम० बी० बी० एस० की डिग्री ली। जो कभी पढ़ा नहीं किन्तु फिर भी पास हो गया। कुछ ही महीने हुए उसने सरक्यूलर रोड पर दुकान खोली है, और चल भी निकली है। अपना अपना भाग्य है न। (कुछ क्षण तक चुपचाप खाना खाता है।)—और फिर बात यह है कि उसकी दुकान ठीक मौक़े पर स्थित है। स्टेशन से सीधा मार्ग होने से बाहर के रोगी तो उसके यहाँ फँसते ही हैं, पर शहर के रोगी भी वहीं पड़ते हैं।

श्रीमती वर्मा—लेकिन .

डा० वर्मा—और तुम नहीं जानती बाहर के रोगियों से कितना लाभ होता है। काम खराब हो जाए तो डर नही, बिगड़ जाए तो डर नही, और यदि अच्छा हो जाए तो बाहर से और भी रोगी आने लगते हैं। और फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि उनसे फीस अधिक ली जा सकती है। (जल्दी जल्दी खाना खाता है।)

श्रीमती वर्मा—मैं पूछती हूँ कि कपूर के यहाँ बाहर से रोगी

श्रीमती वर्मा—(चुप)

डा॰ वर्मा—वह भी मुझे २५ प्रतिशत कमीशन देगा।

श्रीमती वर्मा—यह तो ठीक है, इससे दोनों को दोहरा लाभ होगा।

डा॰ वर्मा—(जैसे विवशता के साथ) दोहरा लाभ तो होगा, पर अभी सीज़न* शुरू नहीं हुआ। इन दिनों मेरे यहाँ रोगी वैसे ही कम आते हैं। और फिर यदि यही हाल रहा, तो हो सकता है कि उनमें आँखों का मरीज एक वर्ष तक न आए।

[श्रीमती वर्मा कुर्सी से पीठ लगा लेती है। फिर चुपचाप स्वेटर बुनने लगती है और डाक्टर वर्मा चुपचाप खाना खाने लगते हैं।]

डा॰ वर्मा—(एक-दो ग्रास खाकर) और फिर यदि मैं कोई रोगी उसे न भेज सका, तो कपूर को शायद याद ही न रहे। आदमी तो वह नया ही है, और योग्य कभी वह था नहीं, पर पैसे वाला है। अकड़ उसकी किसी से कम नहीं।

(श्रीमती वर्मा चुपचाप स्वेटर बुनती है।)

डा॰ वर्मा—अब अगर तुम कुछ सहायता करो तो यह मुश्किल आसान हो जाए। मैं चाहता हूँ कि उसकी ओर से रोगी जल्दी ही आने-जाने लगें। यदि इधर से कुछ सहारा मिले तो दूसरे डाक्टरों से भी बात करूँ।

श्रीमती वर्मा—(जिसके चेहरे का रंग वापस आ जाता है।) मैं सहायता करूँ?

---

*सीज़न—काम का मौसम।

मेरी सिफारिश करेगा, उनसे जो फीस लूँगा, उसका २५ प्रतिशत डाक्टर कपूर को भेज दूँगा ।

श्रीमती वर्मा—(चुप)

डा० वर्मा—(तनिक उल्लास से) और कौन सा मैं वह अपनी जेब से दूँगा। अरे इतनी ही अधिक मैं उनसे फीस चार्ज कर लूँगा। भला मैं अपनी फीस छोड़ सकता हूँ ।

श्रीमती वर्मा—(चुप)

डा० वर्मा—(उठकर) और फिर देखो, कमीशन तो मुझे केवल एक बार ही देना पड़ेगा। पर रोगी तो वह मेरा हो गया। फिर यदि वह दस बार आए तो कोई दस बार थोड़े ही मैं कमीशन दूँगा। बस पहली बार जो दे दिया सो दे दिया। और फिर एक रोगी का काम यदि उसकी इच्छा के अनुसार हो जाए, तो समझो दस रोगी अपने हो गए। जाने कितनों से फिर वह मेरे नाम की सिफारिश करे और फिर उन सब पर भी कमीशन देने की आवश्यकता नहीं ।

[जैसे दुर्ग सर करके बैठ जाता है, पत्नी कुछ क्षण तक जैसे प्रभावित खड़ी रहती है। फिर—]

श्रीमती वर्मा—हाँ, यह स्कीम अच्छी है।

डा० वर्मा—पर एक ही कठिनाई है।

श्रीमती वर्मा—कठिनाई ?

डा० वर्मा—बात यह है कि कपूर ने साथ-साथ ऐनकों का काम भी आरम्भ कर दिया है और वह मुझसे इस बात की आशा रखता है कि मैं भी उसे कोई आँखों का रोगी भेजूँ ।

डा० वर्मा—(उठकर उसके पीछे जाते हुए) तो यह कोई बुरा काम तो नहीं। कोई जोखम का काम तो नहीं। बस उसे ज़रा जाना है और कहना है कि मेरी आँखों मे कुछ तकलीफ़ है। पढ़ने मे कष्ट होता है। जो औषधि वह दे ले आए। या आँखों का निरीक्षण कराने की फ़ीस पूछकर चला आए। इसके बाद जाने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं तो

श्रीमती वर्मा—(कानों पर हाथ रखकर) न बाबा, किसी और को तैयार कर लो।

[नौकर सब्ज़ी की कटोरी और फुल्के ले आता है। डा० वर्मा मुँह फुलाए हुए जाकर कुर्सी पर बैठ जाते हैं और अपना समस्त क्रोध रोटी पर उतारने लगते हैं।

दो ग्रास जल्दी-जल्दी खाने के बाद नौकर को आवाज देते हैं।]

—ओ मुड्डू, ओ मुंड्डू !

(मुड्डू दरवाजे से झाकता है।)

डा० वर्मा—यह गर्म करके लाया है, बदमाश, पाजी, 'ले जा इसे उठाकर।

[नौकर डरता-डरता सब्ज़ी की तश्तरी उठाकर ले जाता है। डा० वर्मा अचार ही से खाना खाने लगते हैं।

कुछ क्षण के लिए खामोशी

जिसमे डा० वर्मा पूर्ववत् जल्दी-जल्दी खाना खाए जाते हैं और श्रीमती वर्मा जल्दी-जल्दी सलाइयाँ चढाए जाती हैं। फिर उनके पास आकर चुपचाप खड़ी हो जाती हैं। मुंड्ड फिर सब्ज़ी गर्म करके ले आता है।]

डा० वर्मा—मैं चाहता हूँ कि कपूर के यहाँ योंही दो-चार आदमी भेज दूँ, जो ऐसे ही अपनी आँखों के बारे में उससे परामर्श करें। चिकित्सा वे चाहे उससे न कराएँ। लाभ इसका यह होगा कि कपूर को मेरा भी ख़याल रहेगा। और यदि उसने दो-चार आदमी भी भेज दिए तो महीने का खर्च निकल जायगा।

श्रीमती वर्मा—तो उसमें मैं क्या कर सकती हूँ!

डा० वर्मा—बात यह है कि पहले पहल मैं एकदम किसी दूसरे आदमी को कैसे भेज सकता हूँ। अपना आदमी हो, तो उसे यह सब बात समझाई जा सकती है। इसके बाद तो कुछ दिनों तक मैं कोई न कोई आदमी तैयार कर लूँगा। वह बाबू राम-लाल ही ऐनक लगवाना चाहते थे। मुझसे पूछ भी रहे थे। न हुआ तो उनसे ही कपूर के यहाँ जाने को कह दूँगा।

श्रीमती वर्मा—हाँ, अपने आदमी के सिवा किसी को यह सब कैसे कहा जा सकता है?

डा० वर्मा—(नौकर को आवज देते हैं।) ओ मुंडू!

(मुंडू आता है।)

डा० वर्मा—एक-दो गर्म फुल्के ला और (तश्तरी उनकी ओर सरकाते हे) यह सब्ज़ी भी गर्म कर ला। (पत्नी से) इसीलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम कुछ सहायता करो।

श्रीमती वर्मा—मैं जाऊँ? (हँसती है।)

डा० वर्मा—नहीं तुम ज़रा परतूलचन्द से कहो।

श्रीमती वर्मा—(उठकर और कानों पर हाथ रखे हुए कुछ क़दम जाकर) न जी न, मेरा भाई ही इस काम के लिए रह गया।

(जीजा जी चुपचाप खाना खाए जाते हैं।)

श्रीमती वर्मा—बात यह है परतूल कि तुम्हारे जीजा जी डा० कपूर को अपनी सहायता के लिए कमीशन देंगे।

(डा० वर्मा जोर से थाली में चम्मच फेंकते हैं।)

परतूल—सहायता के लिए कमीशन देंगे डाक्टर कपूर को,.. जीजा जी ?

श्रीमती वर्मा—बात यह है कि ....

डा० वर्मा—(क्रोध से) बकवास ! (उठकर) बात यह है परतूल कि सरक्यूलर रोड पर जो नये डाक्टर आए हैं न, कपूर—आई स्पेशेलिस्ट*, उनसे मैंने समझौता किया है कि वे मुझे दाँतों के रोगी भेजा करे और मै उन्हें आँखों के मरीज़ भेजा करूँगा। और उन रोगियों से हम जो फ़ीस लेंगे, उसमें से २५ प्रतिशत एक दूसर को कमीशन दे दिया करेंगे। आपस का यह समझौता हममें तय हुआ है। इससे हम दोनों का दोहरा फायदा होगा।

परतूल—हाँ, यह खूब है।

श्रीमती वर्मा—खूब तो है, पर तुम इनकी कुछ सहायता करो तब न।

परतूल—मैं सहायता करूँ ?

डा० वर्मा—भाई, तुम कल उनके यहाँ चले जाना, कहना—जब मैं पढ़ता हूँ, तो मेरी आँखें दुखने लगती हैं, मस्तक में पीड़ा होने लगती है। देखिए कही मायोपिया (Myopia) तो नहीं हो गया।

---

*आँखों के विशेषज्ञ।

श्रीमती वर्मा—(जैसे अपने आप) मैं कहती हूँ, परतूल के बदले किसी दूसरे को नही भेजा जा सकता।

[डा० वर्मा पानी का गिलास मुँह से लगा लेते हैं और गट-गट पानी पीने लगते हैं।]

श्रीमती वर्मा—(उसी स्वर में) और कुछ नहीं, अभी लड़का ही तो है। मुझको उससे सदैव ही भय रहता है, कहीं कुछ हँसी की ही बात कर दे और तुम्हारे वे डाक्टर कपूर बिगड़ जाएँ।

[डा० वर्मा गिलास रख देते हैं और बिना उत्तर दिए नीचा ध्यान किए खाना खाते हैं।]

श्रीमती वर्मा—अच्छा मैं उससे पूछती हूँ। (नौकर को आवाज देती है।)—वे मुंडू!

(नौकर दरवाजे से झाँकता है।)

—जा तो जरा, नीचे परतूल पढ़ रहा है, उसे बुला ला।

[मुंडू चला जाता है।

खामोशी

जिसमें डाक्टर साहब धीरे-धीरे खाना खाते हैं और श्रीमती वर्मा आहिस्ते आहिस्ते स्वेटर बुनती हैं। कुछ क्षण बाद सीढ़ियों में चप्पल की फट-फट सुनाई देती है और दूसरे क्षण परतूलचन्द पाँवों में चप्पल, कमर मे लकीरदार नाइट सूट का पायजामा, गले में खुले कालर की धारीदार कमीज और उन पर एक गहरे भूरे रंग की लोई का फेंटा मारे प्रवेश करता है।]

परतूल—कहिए जीजा जी!

(आर्द्र नयनों से उसकी ओर देखती है ।)

परतून—देखो बहन .... ..

श्रीमती वर्मा—जाओ हटो, इतना काम भी नहीं कर सकते !

(मुँह फेरकर जल्दी-जल्दी स्वेटर बुनती है ।)

परतून—(तनिक समीप आकर धरती में दृष्टि जमाए) मैं कहता हूँ, मैं चला तो जाऊँगा पर मुझसे चुप न बैठा रहा जा सकेगा। यदि उसने निरीक्षण आरम्भ कर दिया ..

डा० वर्मा—कर दिया (उठकर) तो फिर क्या हो गया । क्या हो गया फिर। तुम चुपके से निरीक्षण करवा लेना। जो दवाई वह डाले डाल लेने देना। यदि टेस्ट भी करवाने को कहे, तो मैं कहता हूँ टेस्ट भी करवा लेना। रुपये मैं दे दूँगा। अरे जो रुपये वह टेस्ट के लेगा, उनके २५ प्रतिशत तो हमारे घर में ही आ जाएँगे और बाकी यदि दो पेशेंट भी उसने भेज दिये तो सबकी कसर निकाल लूँगा। बस ज़रा कुछ क्षण चुप बैठे रहना।

श्रीमती वर्मा—हाँ, जो काम करना होता है, करना ही होता है।

परतून—अच्छा-अच्छा, तो मैं कल चला जाऊँगा, सुबह कालेज जाने से पहले। (चप्पल फटफटाता चला जाता है।)

डा० वर्मा—(अत्यधिक प्रसन्नता से) मैं कहता हूँ शीला, यह स्कीम चल निकली तो मैं नगर भर के सब डाक्टरों से कमीशन तय कर लूँगा। और फिर इस मकान या दूकान के किराए की बिसात ही क्या है ? कितने डाक्टर हैं लाहौर शहर में ?—देखो कल ही मैं डा० वृजलाल से बात करूँगा। (नौकर को आवाज़ देता है।) —ओ मुंडू, ओ मुंडू !

परतूल—मायोपिया ! मैं तो बीस के बदले तीस फुट से चार्ट के अन्तिम पंक्ति पढ़ सकता हूँ ।

डा० वर्मा—तुम भी बस वह हो—अरे भाई, कोई सचमुच ऐनक थोड़े ही लगवानी है । बात यह है कि तुम्हें कपूर ने कभी देखा नहीं और तुम्हे यह बताने की आवश्यकता भी नहीं कि तुम मेरे रिश्तेदार हो । तुम कहना कि मैं उनका पेशेंट हूँ और उन्होंने आपका नाम बताया है । एक कार्ड तुम मुझसे ले जाना, उस पर मैं अपने हस्ताक्षर कर दूँगा । कार्ड उसे दे देना और अपनी तकलीफ कुछ भी बता देना । दवाई डाले तो डलवा लेना, ऐनक लगवाने को कहे तो निरीक्षण की फीस पूछ कर चले आना । वह समझेगा कि मुझे उसका खयाल है और वह शीघ्र ही कोई न कोई दाँतों का पेशेंट भेज देगा ।

परतूल—नहीं-नहीं जीजा जी, यह काम मुझसे न होगा ।

[डा० वर्मा पत्नी की ओर ऐसी नज़रों से देखते हैं, कि देख लिए, तुम्हारे भाई भी और फिर जाकर रोटी पर जी का बुखार निकालना शुरू कर देते हैं ।]

परतूल—नही जी, मुझसे यह फ्राड* (Fraud) नहीं हो सकता ।

डा० वर्मा—(आस तोड़ते हुए मुँह फुलाकर) फ्राड ।

श्रीमती वर्मा—(शिकायत के स्वर में) देखो परतूल, अपने जीजा जी का इतना काम भी तुमसे नहीं हो सकता ।

*धोखा

[डा॰ वर्मा लिफ़ाफ़ा खोलकर पढ़ते हैं, पढते-पढते उनके मुख पर उल्लास की रेखा दौड़ जाती है ।]

डा॰ वर्मा—अच्छा, तो आप दूर से डाक्टर कपूर के रिश्ते-दार होते हैं।

रोगी— जी, जी ।

डा॰ वर्मा—बैठिए, बैठिए !

(रोगी सकुचाता हुआ बैठ जाता है ।)

डा॰ वर्मा—(स्वयं भी बैठकर) डा॰ कपूर की मुझ पर विशेष कृपा है । मैं तो एक तरह से फेमेली डेन्टिस्ट—मेरा मतलब कि घर का दन्दानसाज हूँ । कभी ऐसा असवर नही आया कि उनके कुटुम्ब में किसी को दाँतों का कष्ट हुआ हो और उन्होंने मुझे सेवा का अवसर न दिया हो। (एक बार फिर पत्र उठाकर पढता है ।)—हूँ, तो आप राहों से आए है ?

रोगी—जी !

डा॰ वर्मा—वहाँ आप कहीं नौकर है ?

रोगी—जी नहीं, नौकर तो मैं किसी जगह नहीं ! (मुस्कराता है।)

डा॰ वर्मा—तो काम, मेरा मतलब है कि आप. . (हँसता है।)

रोगी—काम आपकी कृपा से अच्छा है । उधर देहात में साहूकारा है और कस्बे में एक दुकान भी है।

डा॰ वर्मा—(खिसियानी हँसी के साथ) तो फिर आपको काम की क्या अवश्यकता है । जिसके घर में .. (हँसता है।)—मेरा मतलब है कि . . खैर तो लाहौर योंही सैर के लिए आए हैं ?

रोगी—जी, सैर ही समझ लीजिए । कुछ काम भी था।

(मुंह दरवाजे से झाँकता है ।)

डा० वर्मा—यह सब गर्म करके ला, सब ठंडा हो गया है ।

श्रीमती वर्मा—यह मुआ क्या गर्म करेगा, मैं जाकर ठीक तरह से गर्म कर लाती हूँ ।

(स्वेटर हाथ में लिए ही चली जाती है ।)

पर्दा .

तीसरा दृश्य

स्थान—डाक्टर वर्मा की सर्जरी ।

समय—दूसरे दिन ६ बजे सुबह ।

[सब कुछ वैसे ही है जैसे पहले दृश्य में । बायीं ओर के एक कौच पर एक रोगी बैठा डाक्टर वर्मा की प्रतीक्षा कर रहा है । रंग-रूप से देहाती मालूम होता है ।

छोटे मेज से उर्दू का एक समाचार-पत्र उठाकर पढ़ता है और फिर उसे रखकर अंग्रेजी के समाचार-पत्र की तसवीरें देखता है ।

कुछ क्षण बाद सर्जरी से डा० वर्मा दाखिल होते हैं ।]

रोगी—(उठकर यथलाती आवाज में) नमस्कार डाक्टर साहब !

डा० वर्मा—नमस्कार ! कहिये मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?

[रोगी जेब से एक लिफाफा निकालकर देता है ।]

रोगी—मुझे डाक्टर कपूर ने भेजा है ।

रोगी—(हलकाते हुए) आपके......डाक्टर साहब.......आपके यहाँ तो कोई तकलीफ नही होती ?

डा० वर्मा—बिलकुल नहीं, सुई बराबर भी नही।

रोगी—तो देखिए डाक्टर साहब (उठकर मुँह खोलता है।) मैंने इधर, यह डाढ़ दीनू से निकलवाई थी। पन्द्रह दिन पीड़ा और ज्वर से पड़ा रहा सो तो पड़ा रहा, पर अभी तक शायद उसकी कोई किर्च शेष रह गई है। कभी-कभी वह टीस उठती है कि प्रान ओठों पर आ जाते है।

[मुँह खोलकर खड़ा हो जाता है। बलचरन प्रवेश करता है। रोगी पूर्ववत् मुँह खोले खड़ा है।]

बलचरन—औज़ार मैंने सब साफ़ करके ट्रे में रख दिए हैं।

डा० वर्मा—क्या उन्हे उबाल लिया ?

(दोषी की भाँति बलचरन चुप रहता है।)

डा० वर्मा—(क्रोध से) विना उबाले ही क्या रख दिया उनको ?

(बलचरन फिर भी चुप है।)

डा० वर्मा—तो फिर खड़ा क्या देख रहा है ? कितनी बार कहा है कि एक बार जब किसी की डाढ़ निकालूँ तो औज़ारों को उबाल लिया कर।

(बलचरन चला जाता है।)

डा० वर्मा—Idiot† । (रोगी से) आप कुछ देर के लिए अभी बैठें। बात यह है कि एक आदमी के मुँह में जो औजार जाए उसे वैसे ही दूसरे के मुँह मे न लगाना चाहिए। मैंने अभी एक

† Idiot—मूर्ख।

फिर मिलना-जुलना भी हो गया और इस बहाने लाहौर भी देख लिया। आजकल नुमाइश हो रही है। उसका भी... ...

डा० वर्मा—(उठते हुए) राहों के दो आदमी मुझसे पूरा सेट लगवा चुके हैं। आज तक वे उसकी प्रशंसा करते हैं और दाँतों की चिकित्सा तो वहाँ के कई मान्य व्यक्तियों ने मुझसे कराई है। पंडित रामप्रसाद को जंजीवाइटिस (Gingivitis) हो गया था। कई डाक्टरों के दरवाज़ों की ख़ाक छानने के बाद मेरे यहाँ आए। बस वे और उनका सारा कुटुम्ब मेरा पेशेंट हो गया।

रोगी—कौन रामप्रसाद ?

डा० वर्मा—वे, शायद आप उन्हे नही जानते ......ख़ैर, तो आपके दाँतों मे क्या तकलीफ है ?

रोगी—मेरे दाँतों में खून आता है।

डा० वर्मा—आपने पहले भी किसी को दिखाया ?

रोगी—हम डाक्टर साहब, बीमारियाँ आदि क्या जानें ! हम ठहरे देहाती आदमी। हमारे उधर गाँव में यदि किसी के दाँत को कोई कष्ट हो तो वह जाकर दीनू से निकलवा लेता है।

डा० वर्मा—दीनू ! .. ... सर्जन है कोई ?

रोगी—नहीं जी, वह तो नाई है।

डा० वर्मा—लाहौल विला.कुव्वत ! आप लोग भी .खूब हैं। किसी ऐसे वैसे आदमी से कभी भी दाँत न निकलवाना चाहिए। एक तो कष्ट बहुत होता है, दूसरे डाढ़ टूट जाए तो वह तकलीफ़ होती है कि परमात्मा ही मालिक है और नासूर हो जाए तो जान जोखम मे पड़ जाती है।

दाँत निकाले, पर किसी को अणु-मात्र भी कष्ट महसूस नहीं हुआ।

रोगी—कौन घनश्याम दास.

डा० वर्मा—(बेपरवाही से) वे अब वहाँ से बदल गए हैं। आप उन्हें नहीं जानते।

(घंटी बजती है।)

डा० वर्मा—आ जाइये। (रोगी से) हाँ, तो मैं कह रहा था......।

(डा० बृजलाल प्रवेश करते हैं।)

डा० वर्मा—(रोगी से) ये मेरे एक और मरीज आए हैं, आप जरा सर्जरी मे जाकर पधारिये। मैं अभी दो मिनट में आता हूँ। (नौकर को आवाज देता है।) बलचरन, बलचरन!

(बलचरन सर्जरी से आता है।)

डा० वर्मा—इनको जरा सर्जरी में ले जाकर बिठाओ, मैं अभी आता हूँ।

(नौकर और रोगी जाते हैं।)

डा० बृजलाल—मैं तुम्हारा पेशेंट हूँ वर्मा!

डा० वर्मा—अरे भई वह तो है!

(दोनों हँसते हैं।)

डा० वर्मा—तुम ठीक अवसर पर आए बृज! मैं तुम्हारी ओर जाने वाला ही था।

डा० बृजलाल—अरे हटो, तुम आने वाले थे।

डा० वर्मा—नहीं सच! कहो काम-काज कैसा है आजकल?

डा० बृजलाल—मन्दी है बस! हम कर ही क्या सकते हैं।

मरीज़ की दो डाढ़ें निकाली है, और इस मूर्ख ने अभी औज़ारों को उबाला नही। दूसरे डाक्टर इस बात का खयाल नहीं रखते, पर मैं इस मामले मे अत्यन्त सावधान रहता हूँ।

रोगी—(मुँह बन्द करके बैठता हुआ) क्यों नहीं, क्यों नहीं। आप योग्य डाक्टर जो हुए। कपूर साहब ने आपकी बड़ी प्रशंसा की है। मैं तो आता ही न था। उन्होंने दाँत देखे तो कहने लगे, इनका शीघ्र इलाज करा लो, नहीं तो आँखों की बारी आएगी।

डा० वर्मा—एक आँखों पर ही क्या, मैं कहता हूँ दाँतों की ख़राबी के कारण कब्ज़, दाँतों की ख़राबी के कारण पेचिश, दाँतों की ख़राबी के कारण अतिसार, दाँतों की ख़राबी के कारण दिल की धड़कन, जोड़ों का दर्द, गठिया और (आवाज़ भारी करके) मृत्यु तक हो जाती है। (रोगी बैठा-बैठा काँप जाता है।) ये जितनी हड्डियों के ढाँचे, चुँधी आँखों और पिचके गालों वाले लोग आपको दिखाई देते हैं वे दाँतों ही के मरीज़ तो हैं। वह देखिए .. (मॉटो दिखाता है।)

मुँह शरीर का दरवाज़ा है उसकी रक्षा करो।

ख़राब दाँत कब्र खोदने वाले फावड़े है।

रोगी—(हकलाते हुए) यदि डाक्टर साहब कोई दाँत निकालना पड़ा तो कोई कष्ट........

डा० वर्मा—मैं कहता हूँ ज़रा भी नहीं। वह आपके पास ही नवाँशहर के लाला घनश्याम दास हेड-क्लर्क—मैंने उनके पिता, उनकी माता, उनके दादा, उनके कुटुम्ब के दूसरे व्यक्तियों के

झौता हो चुका हो—भेज सकता हू और जिस रोगी को रक्त आदि का निरीक्षण करवाना हो उसे भी अपने किसी ऐसे ही मित्र के पास भेज सकता हूँ, और इसी तरह से वे अपने रोगियों से, जिन्हे दाँतों का कष्ट हो, मेरे नाम की सिफ़ारिश कर सकते हैं।

डा० बृजलाल—मैं समझा, मैं समझा।

डा० वर्मा—देखो, अब तुम एक्स-रे करते हो अथवा रक्त आदि का निरीक्षण, पर भाई दाँतों की चिकित्सा तो तुम नहीं करते, डाढ़े तो तुम नही निकालते। अब यदि तुम्हारे मरीज़ों में से किसी को दाँत की तकलीफ हो तो उसे मेरे यहाँ भेज दो। मैं उससे जो फ़ीस लूँगा उसका २५ प्रतिशत कमीशन तुम्हारे यहाँ भेज दूँगा....

डा० बृजलाल—यह कमीशन ....

डा० वर्मा—मैं कहता हूँ, इसमें बुरा क्या है ? यह तो आपस का सहयोग है। मैं जो मरीज़ तुम्हारे यहाँ भेजूँ उनसे तुम जो लो उसका २५ प्रतिशत मुझे दे देना। आँख के रोगियों के सम्बन्ध में ऐसा ही एक समझौता मैंने कल डा० कपूर से किया था और यह जो रोगी अभी बैठा था यह उसने भेजा है और आँखों का एक पेशेंट मैं भी उसे भेज चुका हूँ।

परतूल—(बाहर से अत्यन्त क्रोध, दुख और व्यंग के स्वर में) और उसकी जो दुर्दशा हुई है वह भी देख लीजिए!

[एक व्यक्ति के सहारे अन्दर प्रवेश करता है और आँखों पर पट्टियाँ बँधी हैं।]

लोगों में रक्त हो नहीं, उसका निरीक्षण क्या करवाएँगे ?

डा० वर्मा—इधर भी यही हाल है। रोगी तब तक डेन्टिस्ट के यहाँ जाने का कष्ट नही करता जब तक कि गलते-गलते डाढ़ मसूढ़ों के अन्दर न चली जाए और इन्जेक्शनों पर फ़ीस से अधिक मूल्य की दवाई न लग जाए।

डा० बृजलाल—पर मैं तो सोचता हूँ कि आखिर इसका इलाज क्या किया जाय ? वास्तव मे देश की सम्पन्नता के साथ ही हमारी सम्पन्नता लगी हुई है। यदि देश ही कंगाल होगा तो........

डा० वर्मा—लेकिन मैं कहता हूँ, यदि हम सब डाक्टर एक दूसरे से सहयोग करें तो यह कठिनाई बहुत हद तक सुगम हो जाए।

डा० बृजलाल—एक दूसरे से सहयोग करें ?

डा० वर्मा—जैसे देखो मैं दाँतों का डाक्टर हूँ—दाँतों की चिकित्सा करता हूँ, पर आँखों का इलाज तो मैं नहीं करता, नाक और कान का इलाज तो मैं नहीं करता, रक्त का निरीक्षण तो मैं नहीं करता और यह सर्वथा सम्भव है कि मेरे रोगियों में से किसी को आँख, नाक अथवा कान का कष्ट हो, अथवा किसी को एक्स-रे या रक्त का निरीक्षण करवाना हो।

डा० बृजलाल—(दिलचस्पी लेता हुआ) हाँ, हाँ।

डा० वर्मा—अब मैं आँख के रोगी को किसी आई स्पेशलिस्ट के पास और नाक तथा कान के रोगी को किसी नाक-कान के रोगों में निपुण डाक्टर के पास, जिससे मेरा आपस का सम-

बनाया किसने? दस वर्ष तो कालेज में धक्के खाता रहा, उसे प्रेक्टिस करने का अधिकार क्या है? ज़ीरोआफ़्थेलमिया मात्र ...

परतूल—मैं तो बेहोश हो गया था। (कराहता है) उसने पट्टी बाँध दी और तसल्ली दी। पर मेरी आँख तो

डा० वर्मा—(और भी चीखकर) मैं उसे नगर से निकलवा दूँगा। मैं उसे बदनाम कर दूँगा। मैं. .

परतूल—पर मेरी आँख तो

डा० वर्मा—(अत्यन्त क्रोध से) मैं उस पर मामला चला दूँगा। हरजाने का दावा कर दूँगा। (रुककर) लेकिन ठहरो, उसका रिश्तेदार उधर सर्जरी में बैठा है

परतूल—(जैसे रोकर) पर मेरी आँख तो

डा० वर्मा—(पागलों की तरह) मैं उसके सब दाँत उखाड़ दूँगा, उसके मसूढ़ों में नासूर कर दूँगा। (दीवानों की भाँति सर्जरी में चला जाता है।)

परतूल—(निढाल होकर) पर मेरी आँख तो बस निकली ही जा रही है।

[सिर को बाजुओं में लेकर छोटी मेज पर झुक जाता है। डा० बृजलाल भौंचक्के से देखते रह जाते हैं।]

पर्दा

——

डा० वर्मा—(चौंककर भय से) परतूल !

परतूल—(जैसे असह्य पीड़ा को रोककर) कुछ नहीं.... ..शायद एक आँख जाती रही ।

डा० वर्मा—परतूल........

परतूल—(थके हुए स्वर में कराहकर) मैंने बिलकुल वैसे ही किया जैसे आपने कहा था । आपके कहने के अनुसार ही मैंने अपनी बीमारी बतला दी । वे निरीक्षण करने लगे तो मैं चुप रहा । देखकर कपूर साहब ने कहा—जीरोआफथेलमिया (Zero ofthalmia) हो गया है । मैं ...

डा० वर्मा—(गर्जकर) जीरोआफथेलमिया !

परतूल—कहने लगे, बड़ा भयानक रोग है ।

डा० वर्मा—(और भी गर्जकर) भयानक रोग ! जीरो . ....आफ ....थेलमिया—भयानक रोग !

परतूल—(दोनों हाथों से मस्तक को पकड़कर कष्ट को रोकते हुए) कहने लगे, सात दिन तक दवाई डलवाओ, फिर ऐनक लगा देंगे ।

डा० वर्मा—पर जीरोआफथेलमिया तो कोई बीमारी नहीं होती मात्र....

परतूल—(जैसे निढाल होकर) और दवाई की पहली किस्त उन्होंने आँख मे डाल दी, और जैसे उसके साथ दिमाग तक की नसें भी जल उठीं ।

(धम से कौंच पर बैठ जाता है ।)

डा० वर्मा—(चीखकर) पाजी, बदमाश, सुअर, उसे डाक्टर

गोष्ठी

[एक साहित्यिक एकांकी नाटक]

—लेखक—

पं० गणेशप्रसाद द्विवेदी

पं० गणेशप्रसाद द्विवेदी

परिचय

श्री द्विवेदी जी के नाटकों में यथार्थ और मनोविश्लेषण का चित्रण अधिक है। सुहागबिन्दी और कॉमरेड उनके सुन्दर एकाकी नाटकसंग्रह हैं। द्विवेदी जी शुद्ध नाटककार हैं। इनके चरित्र भारतवर्ष के घर घर मे मिल सकते हैं। वहीं से चरित्रों को लेकर वे कल्पना की कूची द्वारा पात्रों का कलात्मक अभिनय उपस्थित करते है। छोटी से छोटी घटना भी उनके नाटक का अंग बनकर आती है। नाटकों मे चेतनता का आभास प्रति पद पर मिलता रहता है। उत्थान और पतन यथार्थ के साथ उभरते चलते हैं।

प्रस्तुत "गोष्ठी" नाटक में विद्यार्थी-जीवन का एक महान् व्यंग्य है जिसमें कविता और कहानी पर विशेष प्रकाश डाला गया है। मनुष्य विद्यार्थी-अवस्था में अपने को कितना ऊँचा समझता है और वास्तविकता के स्पष्ट होते ही उसकी स्थिति कैसी हो जाती है इस पर विशेष प्रकाश डाला गया है। गोष्ठी उनका एक सुन्दर नाटक है।

नित्यनाथ—(अकारण खाँसी पैदा कर कण्ठ परिष्कार करता और जेब से रूमाल निकालकर चश्मा पोंछता हुआ) आज यह हमारी इस वर्ष की छठी बैठक है। पर आज की बैठक कई दृष्टियों से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक तो यह कि पण्डित रमापतिजी ने आज का पौरोहित्य करना स्वीकार किया है। दूसरे यह कि हमारी प्रार्थना से हिन्दी के युग-प्रवर्तक कवि श्री कृपाभजी ने आज की कार्यवाही में भाग लेने की स्वीकृति दे दी है।

[करतलध्वनि के साथ सबकी दृष्टि प्रिंसिपल के पास बैठे हुए एक शीर्ण-काय चश्माचक्षु नवयुवक पर पड़ती है।]

नित्यनाथ—(पुन पूर्ववत् खाँसकर गला साफ करता हुआ) अस्तु, तो आप लोग यह तो जानते ही है कि यह गोष्ठी कालेज के छात्रों तक ही परिमित है और इसका उद्देश्य है विविध प्रकार से साहित्य की उन्नति साधन करना तथा मुख्यत विद्यार्थीवर्ग में मातृभाषा-प्रेम और साहित्य सर्जन की रुचि उत्पन्न करना। पर इस गोष्ठी की लोकप्रियता इतनी बढ़ चली है कि समय-समय पर बाहर के नवयुवक साहित्य-प्रेमियों की रचनाओं को भी हम स्थान देने लगे हैं। हमारे पास बहुसख्यक पत्र यह जानने के लिए आ रहे हैं कि इस गोष्ठी का उद्देश्य क्या है। अत एक बार फिर से उद्देश्य को हम सन्तेप से बता देना चाहते है।

(फिर खाँसकर गला साफ़ करता है।) सज्जनो, यह आप पर अविदित नहीं कि वर्तमान वैदेशिक शिक्षा-पद्धति का एक प्रधान अभिशाप यह है कि हम विदेशी भाषा और साहित्य के इतने भक्त हो जाते है कि लिखना तो दूर रहा मातृभाषा में

छात्रायें तथा पिछली दो पक्तियों मे ५-७ छात्र बैठे हैं जो परम उत्कण्ठित भाव से आपस मे तर्क-वितर्क कर रहे हैं। प्राफेसर-वर्ग शान्त मुस्कराहट के साथ विद्यार्थियों का यह भाव लक्ष्य कर रहा है।

गोष्ठी का रङ्ग-ढङ्ग अधिक उतावला देख कालेज के प्रिंसिपल इंगित से मन्त्री को बुला कुछ परामर्श करते हैं और फिर मन्त्री अपने स्थान पर खड़ा हो जनता को सम्बोधन करता है। तुमुल करतलध्वनि। मन्त्री का नाम नित्यनाथ है। सहायक मन्त्री रमेश, मोटर लेकर, सभापति को लाने गया हुआ है।]

नित्यनाथ—(कुछ झेंपता हुआ, रिस्टवाच को लक्ष्य करते-करते, खड़े होकर कुछ कहने जा रहा है पर मानों उसे बनाने के लिए करतलध्वनि शान्त ही नहीं हो रही है। प्रिंसिपल के मृदुहास्य-युक्त शान्ति के इङ्गित से करतल-ध्वनि शान्त होती है और नित्यनाथ नाटकीय ढङ्ग के क्षमा-याचना भाव से कहना आरम्भ करता है।)

देवियो तथा सज्जनो! सभापति महोदय के आने में विलम्ब होने के कारण हम अभी तक अपना कार्य आरम्भ नही कर सके है। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि आज के सभापति राष्ट्रभाषा हिन्दी के गौरव, साहित्य-सम्राट् पण्डित रमा-पतिजी हैं; (करतलध्वनि) और आप समझ सकते हैं कि ऐसे विशिष्ट व्यक्ति का समय पर आ जाना ... ...

कई स्वर—मजाक नही है। (व्यापक हास्य)

नित्यनाथ—अस्तु, तो उनके आने से पहले हम प्रारम्भिक बाते निवटा देना चाहते हैं—

कई स्वर—अवश्य! अवश्य!

कुछ उपदेश, सुझाव आदि। हमारी चेष्टा यह है कि साहित्य में किसी प्रकार नवीन प्राण, नवीन स्फूर्ति या नई जान फूँकना, किसी नवीन चिन्ता-धाराओं का समावेश करना—बस !

[सहायक मन्त्री रमेश के साथ सभापति महोदय का प्रवेश। रमेश अप्टुडेट सूट पहने एक खिलाड़ी, स्वस्थ नवयुवक है। सभापति मध्यवयस्क, स्थूलकाय एक अग्रगण्य कथा-साहित्यिक तथा समालोचक हैं। आते ही दीर्घ करतलध्वनि के बीच मन्त्री नित्यनाथ माला पहनाकर उन्हें उनके स्थान पर बैठाता है।]

सभापति—मुझे खेद है कि मैं बड़ी देर से आया। दो-एक साहित्यिक मित्र उपस्थित थे। कवि चचल के उस नये संग्रह पर ज़रा बहस छिड़ गई थी। उन्हें भी मैं घसीट लाया यहाँ तक।

[अतिथिवर्ग के बीच एक तगड़े-से सज्जन बैठते हैं।]

एक छात्रा—(अपनी पड़ोसिन से दबी आवाज में) देखा मिश्रजी की भाषा में उर्दू का कितना पुट है।

पड़ोसिन—पुट क्या—यह तो बिलकुल 'हिन्दुस्तानी' लिखते हैं—और—

पहली—तो क्या बुरा करते हैं—

सभापति—अच्छा, तो आज का कार्य-क्रम आरम्भ हो।

[नित्यनाथ मेज़ पर रक्खी रचनाओं को उलटने लगता है। एक छात्र पीछे से आकर उसका कुर्ता खींचता है। प्रतियोगी छात्र-छात्राओं में व्यस्तता की एक लहर दौड़ जाती है और सब अस्फुट स्वर से एक दूसरे से काम की बात करने लगते हैं। सभापति अपना चश्मा इतमीनान से लगाकर कुछ रचनायें उलटने-पुलटने लगते हैं। नित्यनाथ मुड़कर पीछे देखता है।]

सोचना तक भूले जा रहे हैं। अपने जातीय साहित्य को तुच्छ समझने लगे है और भाषा तथा साहित्य-सम्बन्धी सभी बातों मे परमुखापेक्षी हो चुके हैं। यह बड़ी भयानक स्थिति है। अपनी संस्कृति के प्रति इतना भयानक असन्तोष जातीय हीनता का परिचायक है। सबसे पहले हमे इसी स्थिति को बदलना है। सांस्कृतिक स्वातन्त्र्य साधन किये बिना और किसी प्रकार के स्वातन्त्र्य के पीछे दौड़ना मरुतृषावत् व्यर्थ है—मृग मरीचिका है—

जनता—हियर ! हियर !!

नित्यनाथ—(उत्तेजित होकर) यह लीजिए—यह 'हियर' 'हियर' क्या ? यह उद्गार-सूचक एक विदेशी नारा है । क्या हमारे यहाँ शब्दों का ऐसा दिवाला निकल गया है कि कोई भी आवेग-सूचक उद्गार प्रकट करना हो तो विदेशी शब्द-भाण्डार का आश्रय लेना ही पड़ेगा। यह सचमुच . ..

एक स्वर—ख़ैर, पायंट पर आइए।

नित्यनाथ—बस फिर वही 'पायंट'—क्या इसके लिए आपको अपनी भाषा से कोई शब्द नहीं मिलता ? ख़ैर, मैं लक्ष्यभ्रष्ट होता जा रहा था, मैं उद्देश्य समझा रहा था इस संस्था का—

[बाहर से मोटर के हार्न की आवाज़]

यह लीजिए सभापति महोदय भी आ पहुँचे । अब मैं संक्षेप मे, दो शब्दों मे, अपना वक्तव्य स्पष्ट कर दूँ - हमारी संस्था का मुख्य कार्य-कलाप यही है कि सदस्यगण अपनी-अपनी रचनायें पढ़ें और उन पर समालोचनात्मक तर्क हो और अन्त में सभापति द्वारा रचनाओं की प्रगति का सिंहावलोकन तथा

छात्र—जी, एक कविता लाया था।

नित्यनाथ—बड़ी अच्छी बात है। तो मैं क्या करूँ?

छात्र—ज़रा इसे भी अगर आज—

नित्यनाथ—अभी तक कहाँ थे? अब मुश्किल है। ज़रा पहले भेज दी होती। ये सब बातें नियम-विरुद्ध पड़ती हैं, समझे आप?

छात्र—सो सब मैं जानता हूँ, पर आप अगर चाहेंगे तो अब भी—

नित्यनाथ—ठीक है, पर आपको कदाचित् स्मरण हो, गत अधिवेशन में आपकी कविता को कुछ विशेष. . (गर्दन हिलाता हुआ नकारात्मक सङ्केत कर करुण हँसी और फिर अपने काम में व्यस्त हो जाता है।)

छात्र—तो जाने दीजिए, पर यह कविता बड़े मार्के की लिखी थी मैंने और यह अधिवेशन भी कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण था, ख़ैर (निराश हो प्रस्थानोद्यत)

नित्यनाथ—अच्छा आप इसे यहाँ छोड़ जाइए। मैं देखूँगा। आप अब बैठिए, कार्यक्रम आरम्भ हो रहा है।

[छात्र एक पाण्डुलिपि रखकर धीरे-धीरे अपने स्थान पर चला जाता है। सभापति क्रम से रक्खी हुई पाण्डुलिपियों को उठाते हैं फिर मन्त्री की ओर देखते हैं। मन्त्री उन सभी को लेकर उनमें से सबसे ऊपर रक्खी हुई एक लिपि उनके हाथ में देता है।]

सभापति—पहले श्री दिवाकरनाथजी स्वरचित एक कविता पढ़ेंगे।

[छात्राओं के पीछे की पंक्ति से एक सुन्दर नवयुवक इठलाता हुआ

छात्र—मेरी रचना पहले ही रख दी है क्या आपने ?

नित्यनाथ—पता नहीं भाई—(काफी झल्ला उठता है।)

छात्र—बाद में हो तो अच्छा।

नित्यनाथ—आप अपने स्थान पर जाइए। जब होगी तब मालूम हो जायगा।

छात्र—आगे हो तो जरा दाव दीजिए, आप समझे ?

नित्यनाथ—यह नहीं हो सकता। (फिर जनता से) तो सज्जनो—अब जरा गत अधिवेशन की रिपोर्ट—

सभापति—रिपोर्ट वगैरह जाने दीजिये—सिर्फ खास मदों का उल्लेख कर दीजिए।

एक स्वर—मन्त्री महोदय 'रिपोर्ट' शब्द का व्यवहार क्यों करते हैं ? क्या उन्हें अपनी भाषा में इसके लिए प्रतिशब्द नहीं मिलता ?

नित्यनाथ—प्रश्नकर्ता महोदय ने निश्चय ही बड़े मार्के से टोंका है। पर उत्तर में निवेदन केवल यही है कि जबकि 'सभा', 'सम्मेलन' जैसी हमारे साहित्य की प्रमुख संस्था के दिग्गजों को ही इसके लिए शब्द नहीं मिला तब मैंने ही कौन सा अपराध किया जो—

[व्यापक हास्य, अस्फुट गुञ्जन]

दूसरा छात्र—(नित्यनाथ का कुर्ता खींचता हुआ उसके कान के पास जाकर) जरा सुनिएगा—

नित्यनाथ—(झल्लाकर) फिर कौन आया, कहो भई क्या है, इस वक्त तो .खुदा के लिए—

फिर वही करुण हास्य दिवाकर की ओर भी निर्दिष्ट करते हैं, जिसका अर्थ केवल यही हो सकता है कि 'क्या अब ऐसी रचनाओं की आलोचना के लिए भी उनका आह्वान किया जायगा।' रूपाभजी गम्भीर बने बैठे रह जाते हैं।]

सभापति—(कुछ देर रुककर, मन्त्री के हाथ से बढाई हुई दूसरी रचना को देखते हुए) अस्तु, अब श्री नमितादेवी स्वरचित एक कहानी पढ़ेंगी। कहानी का नाम है—"वास्तव या स्वप्न"। आपने छोटी कहानी लिखने में अच्छी सफलता प्राप्त की है।

[नमिता का नाम सुनते ही सब एकाएक स्तब्ध हो छात्राओं की मण्डली में बैठी हुई एक लड़की को देखने लगते हैं। दबी करतलध्वनि भी हो जाती है। एक अल्पवयस्का छात्रा खद्दर की साड़ी पहने हुए गम्भीर भाव से सभापति की बगल में खड़ी हो नमस्कार कर पढना आरम्भ करती है।]

नमिता—(कहानी पढती है) आग बरस रही है—जेठ की दुपहरी—पर मुझे चैन कहाँ? लेख लिखना है, किताब पूरी करनी है। परीक्षा देनी है। मकान-मालिक की रुद्रमूर्ति, रुद्रतर आक्रोश, बनिये के उलाहने, उधार, बस इसके सिवा और कुछ सोचने की .फुरसत ही नहीं। पर खैरियत यही है कि उनके जितने किरायेदार छात्र हैं उनमें सबसे ज्यादा मुझसे ही प्रेम करते हैं। न जाने क्यों। इसी से और चिन्ता लगी रहती है। उनका पावना न रहे और चाहे जो हो। अनवरत कलम चलाता जा रहा हूँ। एकाएक दरवाजा खोलकर मकान-मालिक ही घुस आये। मैं घबराया, किराया मॉंगेंगे, इधर छः महीने से एक पैसा नहीं दे सका हूँ। पर उनकी शक्ल देख कुछ सहम-सा गया। विस्मित तो हुआ ही। मुँह सूखा, बाल रूखे, आँखें पथराई,

आकर पहले सभापति को फिर समवेत जनमण्डली को सस्मित नमस्कार कर कविता पढना आरम्भ करने का प्रयत्न करता है। नवयुवक का स्वरूप और उसका वेश-विन्यास इतना आकर्षक है कि उसकी कविता सुनने के बजाय लोगों का ध्यान उसके व्यक्तित्व की ही ओर खिंचा रह जाता है। अस्फुट गुञ्जन क्रमशः शोर-गुल के रूप में परिणत हो जाता है। दिवाकर एकाध पंक्ति पढ़ता है पर कोई सुन नहीं पाता सिवा उसके पास के लोगों के। सभापति जनता से शान्त रहने की अपील करते हैं पर उनकी यह अपील अरण्यरोदन सिद्ध होती है। विना सुने ही 'धन्य धन्य!' 'क्या ख़ूब!' 'कलम तोड़ दी' 'अति सुन्दर' आदि बनावटी प्रशंसा-सूचक नारे श्रोताओं की ओर से आ रहे हैं जिनका प्रभाव झेंप के रूप में दिवाकर के मुखमण्डल पर स्पष्ट है। अन्त में दो चार पंक्तियाँ पढ़, एक विचित्र भाव से कविता समाप्त कर दिवाकर पूर्ववत् नाटकीय गति से, अबकी वार कुछ विशेष भक्ति से श्रोतृवर्ग को नमस्कार करता हुआ अपने स्थान पर लौट जाता है।]

सभापति—सज्जनो, दिवाकरनाथजी की कविता आपने सुनी। किसी सज्जन को यदि इस रचना के सम्बन्ध में कुछ कहने की इच्छा हो तो सहर्ष कह सकते हैं।

[सब स्तब्ध]

सभापति—हमें खेद है कि दिवाकरजी की रचना ध्यान से सुनी ही नहीं गई। अस्तु; सौभाग्य से आज हमारे बीच प्रसिद्ध काव्यकार श्री रूपाभजी तथा चंचलजी उपस्थित हैं। क्या हम आशा करें कि आप (दोनों को सस्मित लक्ष्य करते हुए) एक नवयुवक की कविता के सम्बन्ध में दो शब्द कहेंगे—

[चंचलजी एक म्लान हँसी हँसते हुए पहले सभापति की ओर देखते हैं,

तक प्रशंसासूचक दृष्टि विनिमय। मन्त्री तीसरी पाण्डुलिपि सभापति के हाथ में देने जा रहा है कि पीछे से कोई उसका कुर्ता खींचता है। वह इस समय अच्छे 'मूड' में है इसलिए झल्लाता नहीं है और हँसता हुआ मुड़कर पूछता है।]

नित्यनाथ—कहो भई! तुम्हें क्या चाहिए?

छात्र—जी, इसी के बाद तो मेरी कहानी नहीं है?

[नमिता की कहानी की प्रतिक्रिया अभी स्टेज पर स्पष्ट है। सभी उसी की आलोचना अपने पड़ोसी से सरगर्मी के साथ कर रहे हैं। अस्पष्ट गुञ्जन जारी है और इसी के बीच छात्र और मन्त्री का कथोपकथन हो चलता है और कोई बात नहीं करता।]

नित्यनाथ—(हँसकर) जी नहीं। आपकी बारी बहुत देर में आवेगी और सम्भव है आज—(नकारात्मक इङ्गित)

छात्र—ना-ना, ऐसा न कीजिएगा—रखिएगा जरूर, पर ठीक इसी के बाद ज़रा—

नित्यनाथ—जम न सकेगी इसलिए आज जाने ही दीजिए।

छात्र—नहीं-नहीं। जाने क्यों दें। ऐसी गजब की फिनिश दी है मैंने कि बस

[सभापति का ध्यान इन शब्दों से इधर आकर्षित हो जाता है। दोनों गम्भीर हो जाते हैं, छात्र गमनोद्यत]

नित्यनाथ—(गम्भीरता से) अच्छा जाइए। देखा जायगा। समय मिलने पर है। अब दूसरी रचना आरम्भ होने जा रही है। (सभापति के हाथ एक पाण्डुलिपि रख देता है।)

सभापति—(पाण्डुलिपि के साथ खड़े होते हुए) अब, कुँवर, याद-

धँसी हुई और लाल मानों जलते कोयले। कुछ सँभलकर बैठा, और सोचने लगा रुपये माँगेंगे तो कौन सा वहाना आज करूँगा, बिलकुल मौलिक। पर उस सबकी जरूरत ही न पडी। उन्होंने बड़े विनम्र भाव से एक गिलास ठण्डा जल माँगा। जल्दी से उठकर एक गिलास सुराही का जल मैंने दिया। एक साँस में वे उसे पी गये। 'और एक गिलास !'

दिया मैंने—

वह भी एक घूँट में समाप्त।

'एक गिलास और चाहिए—आह—जान बचाई तुमने भाई, प्यास से जान निकल रही थी, कही पानी का नाम नही—' नींद उचट गई सपना।

किन्तु वास्तव इससे भी भयावह।

अगले दिन उत्तप्त रौद्र और जलती लू की परवाह न करता हुआ मैं बाँध पर से उतर त्रिवेणी की ओर अग्रसर हो रहा था। आज से दस वर्ष पहले जो मकान-मालिक निस्सन्तान दिवङ्गत हुए थे, कल एकाएक जिन्हे स्वप्न मे देखकर मैं—न जाने कौन मुझे बलात् खींचे लिये जा रहा है—आप लोग जो कहेंगे वह मैं जानता हूँ—अपने अन्धविश्वास पर मै स्वयं स्तब्ध हूँ पर नहीं—मेरी अन्यथा गति ही नही है—तर्पण मुझे करना ही होगा। जलती रेत पर पाँव झुलसे जा रहे है, पर तर्पण तो मुझे करना ही होगा।

[नमिता कहानी समाप्त कर सबको नमस्कार करती हुई अपने स्थान पर जाती है। देर तक करतलध्वनि। सभापति तथा रूपाभा व कंचनजी से देर

यादवेन्द्रसिंह—मुझे केवल एक शब्द पिछली कहानी के सम्बन्ध में कहना है। हम सिर्फ यह जानना चाहते हैं कि कहानी कहते किसको हैं। क्या जो कुछ भी कह डाला जाय वही कहानी है? नमितादेवीजी की रचना निश्चय ही सुन्दर है पर क्या वह सचमुच कहानी ही है? मेरी राय में उसे गद्यकाव्य कहें या छोटा निबन्ध कहें या ठीक क्या कहें मैं समझ नहीं पा रहा हूं।

वही स्वर—आपकी समझ का इलाज साहित्य द्वारा असम्भव है।

यादवेन्द्रसिंह—(उमड़ते हुए क्रोध को रोकते हुए) जी, पहले मुझे कह लेने दीजिए कृपाकर।

सभापति—आप कहिए। (शान्ति का आदेश देते हैं।)

यादवेन्द्रसिंह—मेरी तुच्छ सम्मति में जिसमें प्लाट या घटना-क्रम नहीं है वह कहानी नही, और चाहे जो कुछ हो। सुन्दर भाषा में जो कुछ भी कह डाला जाय उसे कहानी के दायरे में डालना सरासर जबरदस्ती है।

वही स्वर—क्या आपने मनोवैज्ञानिक कहानी का नाम नहीं सुना है?

सभापति—अच्छा, अब आप अपनी रचना आरम्भ कर दीजिए।

यादवेन्द्रसिंह—(झल्लाया हुआ-सा) बहुत अच्छा! सुनिये—

"क्रि क्रि क्रि, टेलीफोन की घण्टी बज उठी। खुफिया पुलीस के पेंशनयाफ्ता दारोगा—

वेन्द्रसिंह अपनी एक कहानी पढ़ेंगे, पर इसके पहले कोई सज्जन पिछली कहानी के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहें तो आ सकते हैं।

[छात्रों की पंक्ति से एक स्थूलकाय नवयुवक कानों में हीरे की लौंग, जोधपुर ब्रीचेज़ तथा आधुनिकतम सूट पहने हुए सभापति के पार्श्व में सिंह की-सी गति से आकर मुस्कराते हुए खड़े होते हैं। जनमण्डली से 'हियर-हियर' के स्वागत-सूचक कुछ दबे हुए नारे भी आ जाते हैं।]

सभापति—आप कुँवर यादवेन्द्रसिंहजी हैं और 'भीषण प्रतिहिंसा' नामक अपनी कहानी पढ़ेंगे।

यादवेन्द्रसिंह—(हाथ में अपनी रचना को उलटते-पुलटते हुए कुछ रुककर) क़ब्ल इसके कि मैं अपनी कहानी शुरू करूँ, मैं सभापति महोदय की अनुमति से कुछ शब्द पिछली कहानी के सम्बन्ध में कहना चाहता हूँ—

एक स्वर—अवश्य-अवश्य पर क़िबला यह क़ब्ल के क़ौल के क़ायल कब से हो गये ? (टोकनेवाला लड़कों की पंक्ति में बैठा हुआ एक छात्र है।)

[व्यापक हास्य]

सभापति—ख़ैर, आप कहिए जो कहते हों; समय थोड़ा है।

यादवेन्द्रसिंह—(कुछ रुष्ट तथा उत्तेजित हो) क़ब्ल यानी पेश्तर यानी पहले।

वही स्वर—हिंदी यानी हिंदुस्तानी यानी उर्दू।

सभापति—(विनोद-मिश्रित गम्भीरता से प्रश्नकर्ता के प्रति) मेरी प्रार्थना है कि कुँवर साहब को निर्विघ्न अपना वक्तव्य समाप्त करने दिया जाय।

अन्य रचनाएँ पढवाइए । आज के लिए क्षमा:प्रार्थिता' हूँ । (प्रस्थान)

सभापति—मुझे खेद है, कुँवर साहब अपनी रचना अधूरी छोड़ने पर बाध्य हुए। अब रूपाभजी अपनी 'वह्निशिखा' नाम की कविता पढ़ेंगे।

[तुमुल करतलध्वनि के बीच रूपाभजी एक कागज निकालकर पढने लगते हैं, सबको एक सक्षिप्त नमस्कार करने के बाद]

रूपाभजी—(दीप्त स्वर केदारा राग में)

जल रही वह्नि, जल रही वह्नि,
जल रही वह्नि विस्तर चिरन्तन—
बहिर्जगत् में, मर्मस्थल मे—
जले तुपानल, जले दवानल अरु वड़वानल,
चिता की वह्नि, हवन की अग्नि।

कई स्वर—धन्य ! धन्य !

रूपाभजी—समराङ्गण मे शोणित वह्नि जल रही अहर्निश,
महामहोत्सव बीच छिन्न मुण्ड गावत गान वह्नि के,
प्रति कबन्ध मे जलती वह्नि मशाल, पिनाकी की टङ्कार,
वह्नि उद्गार वज्र कण्ठ से उल्कावत् तोपे उगल रही।

कई स्वर—'भयानक' ! 'भीषण' !!

[सभाभवन मे मुखर प्रशसात्मक गुञ्जन]

रूपाभजो—रुद्र नयन में शुद्ध निरंजन,
जलती धक् धक् वह्निशिखा।
जले तुपानल, जले दवानल अरु वड़वानल,

वही स्वर—तिड़िग्! तिड़िग्! तिड़िग्! यह तो डिटेक्टिव स्टोरी का प्लाट शुरू हुआ। क्या यह भी साहित्यगोष्ठी में पाठ की सामग्री—?

सभापति—(गम्भीरता से रोकते हुए) महाशयजी, अभी आप शान्त रहे।

यादवेन्द्रसिंह—(पाण्डुलिपि मोड़ते हुए) सभापति महोदय मुझे क्षमा करेंगे, ऐसे वातावरण में रचना पाठ—यह शिष्टता के विरुद्ध।

[मन्त्री हाथ जोड़कर प्रश्नकर्ता से शान्त रहने की प्रार्थना करता है।]

नित्यनाथ—मैं विनीत भाव से प्रेमनाथजी से आग्रह करता हूँ कि वे कुँवर साहब कुमेठी को अपनी रचना निर्विघ्न समाप्त करने दे। आप इस कालिज के एक विशिष्ट विद्यार्थी हैं और इस गोष्ठी के—

प्रेमनाथ—(वही प्रश्नकर्ता) प्राण हैं। ठीक है। (खड़ा होता हुआ) पर आप कुँवर या 'विशिष्ट' होने के बल पर ही जासूसी कहानी साहित्य के दायरे में डालने का प्रयास करेंगे यह आशातीत है। यह वास्तविक साहित्य-चर्चा का स्थान है। और अब तक की बैठकों में ऐसा ही होता आया है—

सभापति—(खड़े होकर) मैं प्रेमनाथ जी से एक बार फिर शान्त भाव से बैठने को कहूँगा। कम से कम पहले सुन तो लिया जाय। अभी से—

यादवेन्द्रसिंह—मैं आगे पढ़ने से इन्कार करता हूँ। आप कृपया

कई स्वर—धन्य ! धन्य ! [व्यंग्यात्मक प्रशंसा]

एक स्वर—यह कविता है या व्याख्यान या—क्या ?

सभापति—शान्त, शान्त ।

चंचलजी—अर्ज़ है—

इस पार और उस पार में बड़ा क्षीण व्यवधान,
आसन्न तिमिर बीच जलती दीपशिखा कम्पमान—
जितनी देखूँ उतनी ही बढ़ती आकुलता प्राणों की ।
मृतजन फिरकर आया है, कही है गाथा छिय की ।

एक स्वर—साहब, कुछ समझ मे नही आया ।

प्रेमनाथ—यही तो तारीफ है—

[चंचलजी कागज़ मोड वापस जाते हुए]

चंचलजी—मैं प्रसन्न हूँगा यदि कालेज के छात्रगण उक्त पंक्तियों पर कुछ टिप्पणी करेंगे ।

प्रेमनाथ—मैं यह जानने को उत्सुक हूँ कि उक्त कविता की भाषा क्या है, छन्द क्या है, विषय क्या है और—अन्त में—

वही स्वर—अर्थ क्या है ?

[रूपाभजी अत्यन्त गम्भीर हैं और सबकी दृष्टि उन पर केन्द्रित है ।]

चंचलजी—(अपने स्थान से खडे होकर इस प्रकार हँसते हुए मानो ये प्रश्न तुच्छ हैं और उत्तर देना निरर्थक है—)

श्रेष्ठ कविता वही है जो किसी भाषा, छन्द या विषय की मुखापेक्षिणी नहीं है । अर्थ खोजने से, समझने की शक्ति होने से मिलेगा । मुख्य वस्तु है भाव और भावुक हृदय । समझने

चिता की वह्नि, हवन की अग्नि।

—इत्यादि इत्यादि

बस इसी तरह का है, और मैं अधिक समय नहीं लेना चाहता। (प्रस्थान)

सभापति—कोई सज्जन कुछ कहना चाहते हों तो आ सकते हैं।

[सब चुप]

सभापति—हमारी प्रार्थना है कि चंचलजी भी दो-एक पंक्तियाँ विद्यार्थियों को सुनावें, यद्यपि उनका नाम आज की तालिका में नहीं है।

कई स्वर—अवश्य सुनावें, अवश्य सुनावें।

[झेंपते मुस्कराते हुए चंचलजी आते हैं।]

चंचलजी—मैं आज (जेब टटोलते हुए) के लिए कुछ लिखकर नहीं लाया था। (एक कागज निकालकर) यह एक लिख रहा था। 'रजनी'-सम्पादक बुरी तरह पीछे पड़े हुए थे। अपूर्ण है, खैर पढ़े देता हूँ—पर रूपाभजी के बाद मेरा पढ़ना अनुचित हो तो—

रूपाभजी—कोई हर्ज नहीं आप अवश्य पढ़ें, अवश्य पढ़ें।

चंचलजी—अर्ज है—

निस दिन जलस्रोत समान बहता,
मन विहङ्ग की भाषा होती स्तब्ध,
मैं जीवित हूँ इसका प्रमाण यही
मिथ्या पङ्ख फड़फड़ाऊँ भावाकाश में,
कहाँ क्या होता, जानूँ सब, हवा भी स्तब्ध
बार-बार होता हताश भू-लुण्ठित हो।

दास की लड़की है। वे कसम धराये हुए हैं बिना बी० ए० कराये शादी नहीं करेंगे। उसको काफी स्वतन्त्रता मिली है—वह पढ़ी जो है और फिर ज्ञान का प्रकाश, स्वाभाविक सुरुचि। नवयुवक प्रोफेसर माधव के यहाँ कठिन पाठ समझने के लिए उसे जाना पड़ता है—कभी, कभी।

आज रविवार है। रोज़ से कुछ जल्दी है आज मालती की सभी बातों में। आज न जाने क्यों घर के सभी कामों में वह माता का हाथ बँटा रही है। दोनों छोटे भाई-बहनों को उसने खिला-पिलाकर सुला भी दिया। दोपहर का अलसतन्द्र समय। सब लोग आराम कर रहे हैं। मालती अब भी गृह-कार्य में व्यस्त है। खाना भी नहीं खाया उसने। आज उसकी दावत है एक सहपाठिनी के यहाँ। परीक्षा निकट है, साथ में दिन भर पढ़ना है। तिरछी निगाह से सबको देख वह साइकिल निकाल चल पड़ी। खर रौद्र से आकाश उज्ज्वल.. .. माधव का कमरा खुला था। वह सीधे अन्दर पहुँची। नौकर ने साइकिल उठाकर अन्दर रख दी। नौकर और महराज को छोड़कर उसके यहाँ और कोई नहीं रहता। माधव सो रहा था नङ्गे बदन, रेशमी तहमत लगाये। सुदृढ़ पेशियों का नर्तन उसकी पीठ और बाहुमूल में स्पष्ट। बाल घुँघराले, अस्त-व्यस्त। मालती कुछ देर चुपचाप देखती रही, फिर एकाएक लौट पड़ी शायद घर लौटने के अभिप्राय से। माधव ने चट से पीछे से उसका आँचल पकड़कर खींच लिया। वह गिरते-गिरते बची। नाराज़ होकर बोली—

वाला यदि स्वयं हृदय नही रखता तो कविता उसके लिए व्यर्थ है।

वही स्वर—और सो चिराग़ लेकर ढूँढने से भी नही मिलता आज-कल के लोगों मे—क्यों यही न ?

चचलजी—(उत्तेजित होते हुए) कविता का भाव समझाने के लिए भी भावुक होना आवश्यक है।

वही स्वर—पर भाव कही कुछ हो भी—

सभापति—(खड़े होकर शान्ति का इङ्गित करते हुए) सज्जनो, दो-एक कहानियाँ और है तथा अन्त मे एक निबन्ध है। अब श्री रामनाथजी की एक कहानी है जो स्वयं अनुपस्थित है अस्वस्थता-वश। उनकी कहानी मन्त्री महोदय पढ़कर सुनावेगे।

नित्यनाथ—(पढते है)

माधव दिखलाई पड़ा दूर से। पसीने से लथपथ, नग्नदेह, फ़ुटबाल के मैदान से आ रहा था वह, यूनिवर्सिटी टैङ्क मे नहाने की गरज से। हाथ में रैकेट लिये मालती उसकी बगल से निकल जाने की फ़िराक मे थी। वह लौट रही थी बैडमिंटन खेलकर साइकिल पर। माधव ने जाने कैसे साइकिल को छू दिया। वह तो सँभल गई पर रैकेट गिर पड़ा। माधव ने दौड़कर रैकेट देते हुए हँसकर कहा—'कल दोपहर को आना।'

उत्तर मे तुरन्त उसके मुँह से निकल पड़ा 'नही आऊँगी'—'क्यो ?' . चिकना साँवला रङ्ग, नुकीली नाक, छरहरे लम्बे ढङ्ग की गठन। देखने मे ठीक मालती की तरह नहीं पर तो भी उसका नाम था मालती। योवावसन्त लाला गोवर्धन

तो हैं ही। और फिर सुना है कि शिक्षा-विभाग ने इंटर में एक स्वतन्त्र विषय के रूप में सेक्स-विज्ञान को स्थान देने का निश्चय किया है। लोग पुस्तकें तक लिखने लगे हैं। ऐसी स्थिति में—

प्रेमनाथ—सभापति महोदय क्षमा करेंगे यदि मैं कहूँ कि सेक्स-विज्ञान और साहित्य की आड़ में समाज मे घोर नैतिक उच्छृङ्खलता का प्रचार करना ये दोनों जुदा चीजें हैं।

सभापति—सज्जनो, कहाँ विज्ञान समाप्त होता है और कहा से कुरुचि या गन्दगी आरम्भ होती है यह बताना असम्भव हो जाता है प्राय.। और फिर साहित्य के अन्दर तो सभी आ जाता है। लोगों को अक्सर कहते सुना जाता है कि वर्तमान तरुण-वर्ग में नैतिक चित्तविकार बहुत इकट्ठा हो गया है और इसी से इस प्रकार के साहित्य की सृष्टि इतने प्रबल वेग से होने लगी है। मैं व्यक्तिगत रूप से इसे मानने को तैयार नहीं हूँ। मेरा विश्वास है कि इस प्रकार का साहित्य इसलिये सृष्ट हो रहा है कि यही है सहज पन्थ। और फिर इसके लिये दुःसाहसिक करार दिये जाकर शाबाशी भी खूब मिलती है। तरुण मस्तिष्क के लिये यह भी कम प्रलोभन नहीं है। आज का तरुण समाज कोई बन्धन, किसी प्रकार की बाधा, मानने को तैयार नही है। यह है युग-धर्म। तरुण की इस स्पर्धा को मैं श्रद्धा करने को तैयार हूँ बशर्ते कि किसी प्रकार की बाधा को न मानने के लिये जो शक्ति और जो नैतिक बल अपेक्षित है वह भी तरुण समाज में हो, क्योंकि अशक्त का सस्ता गर्व

'इस तरह से कोई खींचता है ? बाप रे बाप !'

'कल क्यों कहा था, नही आऊँगी ?'

'क्यों न कहूँगी, मैं अब कभी न आऊँगी। इधर कितने 'सन्डेज़' निकल गये, कभी खबर भी ली थी ?'

'ओह यह बात है !'

'जी हाँ, जनाब को 'अपायंटमेंट्स' से फ़ुरसत हो तब न ?'

\+ \+ \+ \+

प्रेमनाथ—बस ! बस ! बहुत हुआ। जनता की ओर से मेरा आग्रह है कि यह कहानी आगे न पढ़ी जाय। 'सेक्स' का नग्न प्रलाप सुनने के लिये हम लोग यहाँ नही इकट्ठा हुये हैं। सभापति महोदय निश्चय ही इस प्रकार की चीजें—

यादवेन्द्रसिंह—(अपने स्थान से खड़े होकर सभापति से) सभापति महोदय ! मै यह जानना चाहता हूँ कि प्रेमनाथजी को सबकी रचना को इस प्रकार टोकने या बन्द कराने का अधिकार कहाँ से प्राप्त हुआ ?

सभापति—(खड़े होकर) शान्त ! शान्त ! सज्जनो, यों भी यह कहानी अब ज्यादा नही है। पर हम इसको यहीं छोड़ते है, इसलिये नहीं कि यह सुनने योग्य नही है। क्योंकि साहित्य में सेक्स और सौन्दर्य के बीच विभाग की रेखा खींचना आज-कल असम्भव हो गया है। यह समय की धारा है। साहित्य की इस प्रगति को रोकना असम्भव है। और फिर छात्रों को सेक्स के सम्बन्ध मे अज्ञान रखना कहाँ तक वांछनीय है यह भी एक विचारणीय विषय है। कम से कम इस पर दो राये

की कृत्रिमता या दुःसाहसिकता साहित्य को गन्दा किये दे रही है। सन्तरण-पटु जहाँ पर अनायास ही नदी का खर स्रोत पार कर जाता है वहाँ नौसिखियों का दल विचित्र भङ्गी से नीचे के कीचड़ को ऊपर आलोड़ित किया करता है। अपितु अपनी कृत्रिमता द्वारा ही अपना अभाव पूरा करने की चेष्टा करता है प्राणपण से। अपनी रूढ़ता को वह कहता है—शौर्य, निर्लज्जता को कहता है—पौरुष। बँधी गत बजाने के सिवा उसकी कोई अन्यथा गति नहीं है और इसीलिए वह आज-कल प्रचलित खासकर पाश्चात्य देशों की बहुत सी नई गतें संग्रह करता रहता है।

यादवेन्द्रसिंह—सभापति महोदय से मेरा निवेदन है कि इस प्रकार का आक्षेप आधुनिक लेखकों का घोर अपमान है और वक्ता महोदय का धर्म है कि अपनी वक्तृता समाप्त कर अपने अनुचित शब्दों को वापस लें।

प्रेमनाथ—कदापि नहीं। (उच्च स्वर से) मेरे शब्द आपको या किसी विशेष लेखक को लक्ष्य कर नहीं कहे गये हैं। सिद्धान्त रूप से—

सभापति—शान्त! शान्त। सज्जनों! सभा का 'टेंपर' बिगड़ता जा रहा है और ऐसी स्थिति में सभा भङ्ग करने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। पर इसके पहले मैं रूपाभजी से दो शब्द कविता के सम्बन्ध में कहने की प्रार्थना करूँगा।

समवेत स्वर—निश्चय! निश्चय!

[रूपाभजी कुछ देर शान्ति से चारों ओर देखकर मुस्कराते रहते हैं फिर

एक छोटी वस्तु है। यदि हममे यह कहने का बल है कि हम भापा, छन्द, भाव, नीति, सुरुचि आदि का बन्धन नही मानते तो कविता, कहानी आदि लिखना आसान तो बहुत हो जाता है पर साथ ही इसको साहित्यिक कापुरुषता यदि कहे तो तरुण-समाज हमे क्षमा करेगा—

कई स्वर—शेम ! शेम !

प्रेमनाथ—मै केवल दो शब्द कहानियों के सम्बन्ध मे कहना चाहता हूँ। कविता मेरा विषय नही। उस पर कुछ कहना अनधिकार-चेष्टा होगी—

यादवेन्द्रसिंह—अनधिकार-चेष्टा क्यों ? आज-कल के हिन्दी समालोचना क्षेत्र मे यही तो तमाशा है। जो जिसका विपय नहीं वह उसी का श्रेष्ठ समालोचक माना जाता है।

प्रेमनाथ—खैर जो हो, अन्ततः मै इसके विरुद्ध हूँ। कविता के सम्बन्ध मे निश्चय ही रूपाभजी कुछ कहेगे। खेद है कि कोई नाटक या एकांकी नही पढ़ा गया। पर ठीक ही हुआ। क्योंकि एक दिग्गज कहानी-लेखक का कहना है कि जिनसे कहानी नहीं लिखते बनता वे एकांकी लिखने लग जाते है।

[व्यापक हास्य]

यादवेन्द्रसिंह इसमें भी आपको सन्देह है ? कहानी लिखने की ही एक शैली विशेप है एकांकी नाटक।

प्रेमनाथ—ऐसा ? यह नहीं जानता था—होगा, अस्तु। आज की कहानियों को सुनकर मेरी यह धारणा दृढ़ होती जा रही है कि शक्ति की एक नवीन स्फूर्ति की शुभ घड़ी मे ही शक्तिहीनों

सभापति—देवियो तथा सज्जनो ! यह वास्तव में विद्यार्थियों की सभा या गोष्ठी है। मैं केवल दो शब्द कहना चाहता हूँ और वह यदि अप्रिय सत्य हो तो तरुण वर्ग मुझे क्षमा करेगा ऐसी मेरी धारणा है।

बात यह है कि भली भाँति विद्याभ्यास अथवा साहित्य सृष्टि के लिए मनुष्य को जो अनवरत अभ्यास तथा प्रयास करना होता है और इसके लिए जिस नैतिक बल तथा मानसिक शक्ति की आवश्यकता होती है उसका निश्चय ही हम अभाव देखते हैं। समाज में अभी इस प्रयास तथा शक्ति का आदर है इसी से रक्षा है। पर एक बार किसी कारण से यदि तरुण वर्ग में यह आदर्श फैल जाय कि विद्याभ्यास या शिक्षाभ्यास त्याग करना ही श्रेय है तो अवस्था साङ्घातिक हो जायगी और संक्रामक व्याधि की भाँति तरुण वर्ग में फैलते देर न लगेगी, खासकर जो लोग शक्तिहीन हैं उनमें।

और हमारी आशङ्का यह है कि साहित्य में यदि इस प्रकार के कृत्रिम दुःसाहस की लहर उठी तो अक्षम लेखकों की ही लेखनी मुखर होगी। वास्तविक साहित्य की सृष्टि ही लोप हो जायगी। आज पश्चिम में यही लहर उठी है। उसका झकोरा यहाँ भी पहुँच चुका है। देखें भारत अपनी विशिष्टता अक्षुण्ण रख सकता है या इसी लहर के साथ अपना सांस्कृतिक महत्त्व सदा के लिए खो बैठता है।

[धीरे धीरे यवनिका]

धीरे-धीरे उठकर सभापति के पास खड़े हो सभा को सम्बोधन करते हैं ।]

रूपाभजी—देवियो तथा सज्जनो ! सभापति महोदय ने आधुनिक कविता की प्रगति के सम्बन्ध मे कुछ कहने की आज्ञा दी है। पर मेरे पहले भी दो एक मन्तव्य अभी पढ़ी गई कविता के सम्बन्ध मे प्रकट किये गये हैं—जैसे भाषा, छन्द, भाव आदि की अपेक्षा नही करती आज की कविता। मेरी धारणा है कि उक्त मन्तव्य ठीक नही हैं। कवि होने के लिए शिक्षा, अभ्यास और प्रतिभा इन तीनों का बराबर की मात्रा मे सामञ्जस्य आवश्यक है पर दु:ख है कि कम से कम प्रथम दोनों का हम पूर्ण अभाव देखते हैं—अधिकांश आधुनिक लेखकों मे।

एक स्वर—कबीर, मीरा या सूरदास मे भी शिक्षा आदि का अभाव था—पर ये महाकवि .

रूपाभजी—(घबराकर) सज्जनो, इनकी बात छोड़िए। ये लोग अवतारी व्यक्ति थे और प्रतिभा तथा कवि-हृदय की साकार प्रतिमा थे—

एक दूसरा स्वर—प्रतिभा भी अभ्यास से उत्पन्न की जा सकती है।

रूपाभजी—(और घबराकर) सज्जनो, मुझे कम से कम वाद-विवाद का अभ्यास नही है और अब मैं सभापति महोदय से यह प्रार्थना करता हुआ अवसर प्राप्त करता हूँ कि वे सिंहावलोकन करते हुए सभा विसर्जित करें।

[प्रस्थान]

विभाजन

[एक पारिवारिक एकांकी नाटक]

—लेखक—

श्री विष्णु प्रभाकर

श्री विष्णु प्रभाकर

परिचय

श्री विष्णु प्रभाकर प्रगतिवादी कहानी और नाटकलेखक हैं। इनके नाटकों में जीवन का नग्न सत्य स्थान २ पर दिखलाई देता है। कभी २ उस महान् सत्य को प्रगट करने के लिए ये नाटक और कहानी की सीमा को भी लाँघ जाते हैं। प्रत्येक पात्र मे अभाव, दुःख और वेदना का संमिश्रण रहता है। श्री विष्णु प्रभाकर आज के संक्रान्ति युग का चित्रण करने में विशेष कुशल हैं। इनके नाटकों पर मार्क्सिज़्म की गहरी छाप है।

प्रस्तुत नाटक 'विभाजन' एक सामाजिक नाटक है जिसमें दो भाई प्रभुदयाल और देवराज के भ्रातृप्रेम का संघर्ष है। प्रभुदयाल अपने लड़के को इञ्जीनियर बनाने के लिये, देवराज को ३ हज़ार रुपये पर अपनी दुकान बेचना चाहता है। अन्त में देवराज लिखापढ़ी के कागज़ को भाई के उत्कृष्ट प्रेम में जलाकर ख़ाक कर देता है और पूर्णरूप से भाई की सहायता करता है। नाटक सरल और स्वस्थ भाषा मे लिखा गया है।

विभाजन

पहला सीन

समय—रात के ६ बजे।

स्थान—एक साधारण कस्बा।

[कस्बे के मुहल्ले मे एक घर का आगन । रात काफी अंधेरी है। आगन के पार एक कमरे मे लालटैन टिमटिमा रही है । उसी का प्रकाश आगन मे फैला है। उसी प्रकाश मे एक स्त्री चूल्हे के आगे बैठी है। यह भगवती है। साधारण कपड़े पहिने है। सरदी है इसीलिये आग ताप रही है। चूल्हे पर दूध पक रहा है कि अन्दर से बालक के रोने की आवाज़ आती है। उठकर अन्दर जाती है। चण भर सन्नाटा छाया रहता है, फिर धीरे धीरे एक मीठा स्वर वहाँ आकर फैलता है। भगवती लोरी सुनाकर बच्चे को सुलाती है।]

भगवती—परियों के देश से आ जा री निंदिया।

नीला को आकर सुला जा री निंदिया।

ऊपर है तारों का संसार, नीचे मेरे मन का प्यार

चन्दा मामा ऊपर तेरे, नीचे प्राण संग है मेरे।

नाटक के पात्र

प्रभुदयाल	बड़ा भाई
देवराज	छोटा भाई
भगवती	बड़ी बहू
शारदा	छोटी बहू

महेश, रमेश, नीला, पुजारी, मुहल्ले की स्त्रियाँ
आदि आदि ।

भेजने हैं। वही लाया हूँ।

भगवती—महेश को तो रुपये मैं भेज चुकी। तू कैसे लाया है?

देवराज—(अचरज से) भेज चुकी! परन्तु आधे रुपये तो मैं देता हूँ।

भगवती—ओ! यह बात है। देवराज! अब तुम्हारे देने की बात नही उठती। अब हम अलग अलग हैं।

देवराज—(अप्रतिभ-सा होकर) भाभी! तुम क्या कह रही हो? दुकानें तो तब भी दो थी, अब भी दो हैं। घर बंट जाने से क्या हम भाई भाई भी नही रहे?

भगवती—मैं यह कब कहती हूँ भइया! पर जो बात है वह कैसे भुलाई जा सकती है। जब हम साझे थे तो दुनिया की दृष्टि में एक थे। तू दो सौ कमाता था और वे दस परन्तु मेरा दोनों की कमाई पर एक-सा अधिकार था। अब अलग-अलग हैं। तेरे दो सौ रुपयो पर मेरा कोई अधिकार नही है। यह व्यवहार की सीधी बात है। नाते रिश्ते का इससे कोई सम्बन्ध नही है।

देवराज—परन्तु भाभी! मेरी आमदनी पर तुम्हारा अधिकार नहीं है, महेश का तो है। मैं उसी को देता हूँ, तुम्हे नही।

भगवती—देवराज! जब तक हम है उसके पालन-पोषन का कर्त्तव्य हमारा है। जब हम नही रहेंगे तब तेरे देने की बात उठ सकती है। (गर्व से) व्यर्थ ही झुकना क्या ठीक है? जब बहुत थे तब बहुत खर्च करके सिर ऊंचा रखा। अब कम है तो हम किसी से मॉगेगे नही। ना, तेरी भाभी जीते जी कभी ऐसा

पलकों मे आके समा जा री निंदिया।
नीशा को आके सुला जा री निंदिया॥

[तभी दरवाजे पर खटखट होती है, कोई पुकारता है।]

आवाज—भाभी""भाभी....!

भगवती—कौन है ?

आवाज—मैं—, देवराज !

[भगवती शीघ्रता से उठती है और किवाड़ खोल देती है।]

भगवती—देवराज! क्यों ? रात को कैसे आया !

[मुस्कराती है।]

देवराज—(हँसता है) चौंकती हो भाभी ! अपने घर के लिए भी रात या दिन का सवाल होता है ?

भगवती—घर तो तेरा ही है परन्तु फिर भी कोई काम है क्या ?

देवराज—हाँ, भइया से काम था।

भगवती—वे तो दस बजे से पहले कभी मन्दिर से नही लौटते।

देवराज—तब!

भगवती—कोई जरूरी काम है ? मैं कह दूंगी !

देवराज—हाँ! तुम ही दे देना ! रुपया लाया था।

भगवती—(अचरज से) कैसे रुपये हैं ? क्या उन्होंने माँगे थे ?

देवराज—नही तो।

भगवती—तो।

देवराज—भाभी। कल पहली तारीख है। महेश को रुपये

भगवती—(हँसती हँसती) पगला ! दो नाव में पैर रखना चाहता है !

[भगवती फिर उसी तरह चूल्हे के पास आकर बैठ जाती है। कोयले बुझ चले हैं, उन्हें लहकाने लगती है। फिर निस्तब्धता छा जाती है।]

दूसरा सीन

समय—लगभग १० बजे रात।

स्थान—बाज़ार मे ठाकुर जी का मन्दिर।

[मन्दिर में ठाकुर जी की सजी हुई प्रतिमा के सामने पूजा हो रही है। कुछ भक्तजन घण्टे घड़ियाल बजा रहे है। कुछ दोनों हाथ जोड़े ध्यानावस्था में खड़े हैं। मूर्ति के ठीक सामने एक थाल में कुछ पैसे पड़े हैं। दूसरी तरफ चौकी पर एक तश्तरी में मिष्टान्न और एक लोटे में चरणामृत है। पुजारी जी ज़ोर-ज़ोर से पुकार रहे हैं।]

पुजारी—(ध्यान लगाये हुए)

ओ३म् ! ओ३म् ! ओ३म् ! ओ३म् !
त्वमेव माता च पिता त्वमेव।
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ॥
त्वमेव विद्या द्रविड़ं त्वमेव।
त्वमेव सर्वं मम देव देव ॥

ओ३म् हरि, ओ३म् हरि, ओ३म् हरि, ओ३म् हरि !

[कुछ भक्त जाते हैं, कुछ और आते हैं, जानेवाले पुजारी को प्रणाम कर चुपचाप हाथ फैला देते हैं। पुजारी एक चम्मच से चरणामृत तथा मिष्टान्न का एक टुकड़ा उनके फैले हुए हाथ पर रख देता है। श्रद्धा से झुक-

नही करेगी। देख फिर कहती हूँ तू देगा तो लौटाने की बात उठेगी। उतनी शक्ति हममे नही है। न जाने कल को क्या हो ? भाई भाई में जो मोहब्बत है वह भी खोनो पड़े। उस समय दुनिया हँसेगी। इसलिये कहती हूँ तू लेने-देने की बात मत कर। और सुन, जब हम नही रहेगे तब तू ही तो करेगा। (क्षण भर रुककर) जा घर पर बहू अकेली होगी। कितना अंधेरा है बाहर।

देवराज—भाभी !

भगवती—हाँ, भइया।

देवराज—तो जाऊँ।

भगवती—और कैसे कहूँ ?

देवराज—मैने यह नही सोचा था, भाभी !

भगवती—देव ! तू जानता है जब मै इस घर मे आयी थी तो तू कितना बड़ा था ? सात वर्ष का होगा। मैंने ही पाल-पोप कर इतना बड़ा किया है। उस प्रेम को कोई मिटा सकता है ? उसी प्रेम को अक्षुण्ण रखने को कहती हूँ देवराज ! तू भाभी के साथ व्यवहार के पचड़े मे न पड़।

देवराज—भाभी ई ई ई ....

भगवती—जा। रात बढ़ी आ रही है। इतने बड़े घर में बहू अकेली होगी।

[देवराज की आँखें झर-झर बहती हैं। वह बेदम सा उठता है और बिना बोले एकदम बाहर निकल जाता है। भगवती किवाड़ बन्द कर लेती है। उसकी आँखो मे आसू झलक आये है पर चेहरे पर एक अद्भुत मुस्कराहट है, जो धीरे-धीरे हँसी मे पलट जाती है।]

आपको भुला नहीं सकते। आपकी दक्षिणा के बीस रुपये मैं ले आया हूँ।

पुजारी—(बेहद नम्र होकर) हैं, है, हैं! देवराज! मैं कहता हूँ तुम दोनों भाई दिव्य हो। तुम्हारे ऐसे जन विरल हैं। परमात्मा तुम्हें सदा सुखी रखें। आनन्द

देवराज—(मुस्कराता है) और पुजारी जी एक बात न भूलियेगा।

पुजारी—(मुस्कराता है) क्या ?

देवराज—इस बार भगवती देवी का जाप करना है।

पुजारी—ज़रूर, ज़रूर। यह तो मैं हमेशा करता हूँ।

देवराज—और यजमान भइया होंगे।

पुजारी—जानता हूँ देवराज! वे बड़े हैं।

देवराज—जी! अच्छा पालागन महाराज।

पुजारी—युग युग जीयो, सुखी रहो।

[देवराज बाहर जाता है। पुजारी फिर प्रसाद बाटने लगता है, भक्त-जन आपस में बातें करते हैं।]

एक आदमी—देखा इस देवराज को। जब ज़रा दो पैसे कमाने लायक हुआ तो भइया को अलग कर दिया।

दूसरा आदमी—हाँ भइया! प्रभुदयाल की बहू ने पेट का समझकर पाला था। माँ तो ज़रा-से को छोड़कर मर गयी थी। उसके जी पर क्या बीतती होगी ?

तीसरा आदमी—तुम नहीं जानते, बड़ी तेज़ औरत है। देव-राज ने केवल एक बार कहा था भाभी इस रोज़ रोज़ की खटखट से तो अलग चूल्हा बना लेना अच्छा है। बस उसने दो चूल्हे करके

कर वे चले जाते हैं। कहीं दूर दस का घण्टा बजता है। पुजारी उठता है। आरती उठाकर घण्टो हिलाता है। कुछ क्षण तक सब मिलकर गाते हैं 'आरती श्री ठाकुर जी की' और फिर सब स्वर एकदम समाप्त हो जाते हैं। पुजारी भक्तों को अन्तिम प्रसाद देने के लिये आगे बढता है। इसी समय देवराज वहाँ आता है, सबको देखता है।]

देवराज—पुजारी जी, पालागन।

पुजारी—जीते रहो, सुखी रहो देवराज! कैसे आये इस वक्त ?

देवराज—भइया को देख रहा था। गये क्या ?

पुजारी—वे अभी गये हैं। कहते थे आज जी कुछ उदास है। सत्संग मे नही बैठे। हाँ, पूजा समाप्त कर गये है। नियम के बड़े पक्के है। (हँसता है।)

देवराज—हाँ, पुजारी जी। भइया ने जीवन मे एक ही बात सीखी है और वह है नियम। नियम से परे उनके लिये कुछ भी नहीं है।

पुजारी—देवराज! मै कहता हूँ प्रभुदयाल क्या इस दुनिया का आदमी है। नहीं, वह तो देवता है। परन्तु (आहिस्ते से) जबसे उस घर मे आये हैं कुछ उदास रहते हैं।

देवराज—(चौंककर) हाँ। (सँभलकर) इस बार जब कथा हुई थी आप नहीं आये थे।

पुजारी—(नम्र स्वर मे) हाँ भइया। इस बार मैं नहीं आ सका था। काश्मीर चला गया था। बड़ा दुःख रहा प्रभुदयाल के घर कथा हो और मै न रहूँ।

देवराज—लेकिन! पुजारी जी, आप हों या न हों, हम

से धुँआ उठता है और ऊपर आसमान मे काले धुँधले बादल बनाता है। वातावरण मे एक गूँज-सी भरी है। तभी बाहर से भगवती हाथ मे एक चिट्ठी लिये आती है और प्रभुदयाल के पास आकर खड़ी हो जाती है।]

प्रभुदयाल—(देखकर) किसकी चिट्ठी है ?

भगवती—महेश की।

प्रभुदयाल—(मुस्कराकर) क्या लिखा है उसने ?

भगवती—वही जो हमेशा लिखता है। कैसे भी हो रुपये का प्रबन्ध कर ही दें। अपने दरजे में अव्वल आया है।

प्रभुदयाल—(जाकेट के बटन लगाते लगाते)—अव्वल तो हमेशा ही आता है परन्तु रुड़की जाने के लिए कम से कम १००) महीने का खर्च है।

भगवती—वह तो मै जानती हूँ परन्तु रुपये नही मिलेगे इसी कारण लड़के का भविष्य नही बिगाड़ा जा सकता।

[क्षणिक सन्नाटा]

भगवती—मै तो समझती हूँ कि रात को जो कुछ मैने कहा था वही ठीक रहेगा।

प्रभुदयाल—(सोचता है) तुम तो बस

भगवती—जानती हूँ दुकान गिरवी रखने की बात से आपको दु.ख होता है। अगर मेरे पास इतने गहने होते जिनसे उसका काम चल जाता तो मैं कभी यह बात नही कहती। १०००) रुपये से एक साल का खर्च भी नही चलेगा। बात तीन साल की है।

प्रभुदयाल—कुछ भी हो, मैं बाप दादा की सम्पत्ति नही बेच सकता। गिरवी रखकर छुड़ाने की आशा नही रहती। और फिर

दम लिया। प्रभुदयाल तो सीधा-साधा आदमी है।

चौथा आदमी—अजी घर घर यही मिट्टी के चूल्हे है। बंटना क्या बरा हुआ। प्रभुदयाल का खर्च भी तो ज्यादा है।

पहला आदमी—अजी खर्च ज्यादा है तो क्या प्रेम को भुलाया जा सकता है। आखिर उन्होंने ही तो इस योग्य बनाया है। बेटे भी इस तरह करने लगे तो....

दूसरा आदमी—भइया! बेटे और भाई में अन्तर होता है।

तीसरा आदमी—अजी! भाई बेटे मे कोई अन्तर नहीं है। अन्तर तो ये सब औरतें करवा देती है। बेटे की बहू आने पर घर में रोज तूफान मचा रहता है, और अब तो भइया के विवाह होते ही अलग हो जाते है।

[सब हँस पड़ते हैं और इसी तरह बातें करते करते बाहर चले जाते है। पुजारी भी तब तक सब दीप बुझा चुकता है। केवल एक दीवा ठाकुर जी के पास मन्द मन्द प्रकाश फेंकता है। पुजारी ठाकुर जी को प्रणाम करता है और किवाड़ बन्द कर देता है। बाहर जाता है। अन्धकार के साथ साथ गहरी निस्तब्धता वहाँ छा जाती है।]

तीसरा सीन

समय—प्रातः ८-६ बजे।

स्थान—प्रभुदयाल का घर।

[प्रभुदयाल पूजा करके दुकान पर जाने का बन्दोबस्त कर रहे हैं। छोटा लड़का रमेश आँगन में बैठा तख्ती पोत रहा है। नीना चौखट पर बैठी रोटी खा रही है। आँगन में सफाई है। कमरा भी साफ नजर आ रहा है। चूल्हे

भगवती—अरे ! क्या इधर ही आ रहा था ?

रमेश—हाँ माँ जी। चाचा तो यहीं आ रहे थे।

देवराज—क्या बात है भाभी ? सुना महेश रुड़की जाना चाहता है। बड़ी सुन्दर बात है।

भगवती—हाँ। कई दिन से यही बात सोच रहे हैं।

देवराज—कुल तीन साल की बात है। भगवान की कृपा से हमारे कुटुम्ब में भी एक अफसर बनेगा। महेश है भी होशियार।

भगवती—यह तो सब ठीक है देवराज ! पर बात रुपयों पर आकर अटक गई है।

देवराज—क्या सोचा फिर ?

प्रभुदयाल—(खासते खासते) उसी के लिये तो बुलाया है।

देवराज—जी।

प्रभुदयाल—(एकदम) मैं कहता हूँ कि तू मेरी दुकान ले ले।

देवराज—(चौंककर) मैं।

प्रभुदयाल—हाँ। तीन हज़ार रुपये की ज़रूरत है।

देवराज—लेकिन भइया।

प्रभुदयाल—मैं धीरे-धीरे सब चुकता कर दूँगा।

देवराज—(दबता स्वर) लेकिन भइया, आप मुझसे कह रहे हैं ?

प्रभुदयाल—हाँ।

देवराज—आपकी दुकान मैं गिरवी रख लूँ ?

प्रभुदयाल—हाँ।

भगवती—इसमें बात ही क्या है। तेरे भइया नहीं चाहते

दुकान की वजह से साख बँधी है। एक बार उखड़ गयी तो पेट भरना भी मुश्किल हो जायेगा।

भगवती—यह सब मै भी जानती हूँ परन्तु पूछती हूँ दुकान की ममता क्या लड़के की ममता से ज्यादा है ?

[प्रभुदयाल बोलते नहीं, केवल शून्य मे ताकते हैं।]

भगवती—(सहसा याद करके) एक बात कहूँ।

प्रभुदयाल—क्या ?

भगवती—मै देवराज को बुलाती हूँ।

प्रभुदयाल—क्यों ? क्या उससे रुपया माँगोगी ?

भगवती—सुनो तो। आप उससे कहना कि वह आपकी दुकान गिरवी रख ले !

प्रभुदयाल—(सोचकर) वह रख ले !

भगवती—जी हाँ। इस तरह बाप दादे की सम्पत्ति बेचनी भी नही पड़ेगी और काम भी बन जायेगा।

प्रभुदयाल—बात तो तुम्हारी ठीक है।

भगवती—तो बुला लूँ उसे। फिर तो वह दिसावर चला जायेगा।

प्रभुदयाल—बुला लो।

भगवती—(पुकारती है) रमेश ! ओ रमेश ! भइया, जा तो अपने चाचा को बुला ला। कहना, भाभी बुला रही है।

रमेश—(दूर से) जाता हूँ, माँ जी।

[कुछ क्षण वहाँ सन्नाटा रहता है। भगवती चूल्हे को तेज करती है कि रमेश और देवराज वहाँ आते है।]

-खाली नजर आता है । केवल आगन के पार दालान में सामान अस्तव्यस्त अवस्था में पड़ा है । कुछ बक्स हैं, होलडाल हैं, सूटकेस हैं । देवराज की पत्नी शारदा अन्दर ला ला कर सामान वहाँ रख रही है । रसोईघर से धुँआ आ रहा है । बाहर से स्त्रियाँ आती हैं । दो चार मिनिट बतराकर चली जाती हैं ।]

स्त्री—(आकर) बहू !

शारदा—जी ।

स्त्री—कब तक लौटेगी ?

शारदा—जी, कह नही सकती । कई वर्ष का काम है । बीच बीच मे शायद कुछ दिन के लिये आ सकूं ।

स्त्री—हाँ बहू, जो परदेश मे कमाने जाते हैं घर उन्हें भूल जाता है ।

[उसी समय देवराज वहाँ आता है, स्त्री बाहर जाती है ।]

देवराज—शारदा ! अभी निबटी नहीं ! भाभी के पास भी चलना है ।

शारदा—(उठकर पास आती है) अभी चलूंगी पर आपने कुछ सुना भी है ?

देवराज—क्या ?

शारदा—जीजी ने अपना जेवर बेच दिया ।

देवराज—जानता हूँ शारदा ! भाभी महेश को रुडकी कालेज भेजना चाहती है । जेवर इसी दिन के लिये बनता है ।

शारदा—और आपके भाई साहब ने दुकान उठाने का निश्चय कर लिया है ।

दुकान किसी दूसरे के पास रहे। अगर छुड़ा भी नही सके तो अपने ही घर रहेगी।

देवराज—(सास लेकर) ठीक कहती हो। भाभी। व्यवहार-कुशल आदमी दूर की बात सोचता है परन्तु बहुधा वह अपने अन्दर की मनुष्यता को भूल जाता है।

भगवती—(चौंकती है) क्या कहता है तू?

देवराज—व्यवहार की बात है भाभी। सोचूंगा। (हँसता है।)

भगवती—(बरबस हँसती है) हाँ हाँ सोच लेना और जवाब दे देना। आखिर महेश के लिये कुछ करना ही होगा। कल की दुनिया कहेगी माँ बाप ने पैतृक सम्पत्ति के मोह में पड़कर सन्तान का गला घोंट दिया। यह उचित नही होगा

देवराज—नही भाभी। उसे जरूर रुड़की भेजो। (उठता है।) अच्छा मै जाता हूँ, सांझ को आऊँगा।

[देवराज जाता है। प्रभुदयाल भी अनमने से उठते है।]

भगवती—डरती हूँ मना न कर दे।

प्रभुदयाल—जो कुछ होना है वह तो होगा ही।

[वे भी लकड़ी उठाकर बाहर चले जाते हैं। भगवती अकेली आगन मे बैठी सोचती है। आँखो मे आँसू भर आते हैं। उन्हें पोंछती नहीं।]

चौथा सीन

समय—दोपहर के लगभग ११॥ बजे।

स्थान—देवराज का घर।

[देवराज का घर काफी सुन्दर और सजा हुआ है परन्तु अब घाना

शारदा—और फिर महेश की बात है। उस पर उन्हें कितनी आशाएँ हैं।

देवराज—(एकदम उदास होता है) हाँ, शारदा। तुम ठीक कहती हो। आशा सब कुछ करा लेती है....

[तभी रमेश का तेज स्वर पास आता है।]

रमेश—चाची, चाची-ई-ई.......।

शारदा—क्या है रमेश ?

[रमेश का प्रवेश]

रमेश—चाची, तुम जा रही हो। मैं भी चलूंगा।

शारदा—(हँसकर) चलेगा ?

रमेश—हाँ।

शारदा—जीजी से पूछा तूने।

रमेश—पूछा था चाची। भाभी ने कहा है जी करता है तो चला जा।

शारदा—(देवराज से) इसे ले चलो जी। अकेले जी भी नहीं लगेगा। और फिर. ।

देवराज—तो ले चलो। लेकिन मुझे एक काम याद आ गया। जरा बाजार हो आऊं। भाभी के पास सन्ध्या को चलेंगे।

रमेश—चाचाजी, भाभी ने कहा है शाम को खाना वहीं खाना।

शारदा—अच्छा रे, पर अब तू मेरा काम करना, चल।

[शारदा मुस्कराती मुस्कराती उसे पकड़कर अन्दर ले जाती है। देवराज एक बार उन्हें देखकर हँसता है फिर उदास होकर बाहर चला जाता है। दूर कहीं घण्टा बजता है।]

देवराज—(चौंकता है) यह किसने कहा तुमसे ?

शारदा—अभी-अभी रामकिशोर की बहू कह रही थी। उन्हीं के साझे में वे कपड़े की दुकान खोलेंगे।

देवराज— अच्छा ! (अचरज)

शारदा—और रुई का व्यापार भी करेंगे।

देवराज—(हतभ्रम-सा) भइया रुई का व्यापार करेंगे ?

शारदा—जी हाँ। अब वे खूब रुपया कमाना चाहते है।

देवराज—(म्लान होता है) सचमुच ?

शारदा—और नही तो ये सब बातें क्या माने रखती हैं ?

देवराज—शायद तुम ठीक कहती हो। उन्हे रुपयों की जरूरत है। भाभी ने मुझसे भी कहा था।

शारदा—(अचरज से) क्या कहा था ?

देवराज—मैं भइया की दुकान गिरवी रखकर उन्हें तीन हजार रुपया दे दूँ।

शारदा—(उत्सुकता से) फिर।

देवराज—फिर क्या ? मैंने मना कर दिया।

शारदा—(सन्तोष की सास लेकर) आपने ठीक किया। सगे सम्बन्धियों से लेन-देन करके कौन आफत मोल ले।

देवराज—लेकिन भइया तो सीधे सादे आदमी हैं। इतना काम कैसे करेंगे।

शारदा—(मुस्कराती है) घर में जीजी तो हैं। वे सब कुछ समझती हैं।

देवराज—(हँसता है)—

शारदा—क्या कह रहे हैं आप ? तीन हज़ार रुपये क्या इसी तरह फक दिये जायेंगे ?

देवराज—नहीं शारदा ! भाभी को मै जानता हूँ। उन्हीं की गोद मे पलकर इतना बड़ा हुआ हूँ।

शारदा—लेकिन

देवराज—(बीच ही में) और सुनो ! होंगे तो भइया रुपये रखेंगे, नही, यह भी जान लो कि वे देने आवेगे तो लौटाऊँगा भी नहीं। व्याज तक ले लूँगा। व्यवहार की बात है।

शारदा—(चिन्तित होकर) मैं नही जानती तुम्हे क्या होता जा-रहा है।

देवराज—(हसता है) यह तो मैं भी नहीं जानता। भाभी से जब मैंने कहा मैं दुकान गिरवी रखकर रुपये दे दूंगा तो वे रो पडीं। सच कहता हूँ शारदा ! जीवन में पहली बार आज मैंने भाभी को रोते देखा। मैं, हंसता हूँ। तुम गुस्सा करती हो, करो। परन्तु मैने भाभी को आज रोते देख ही लिया.

[कागज को जल्दी-जल्दी फाड़कर रसोईघर की आग में डाल देता है। उसमें आग बुझ चली है, कागज गिरने पर धुँआ उठता है।]

—सुनो शारदा ! रोने हँसने का यह सीन यहीं समाप्त होता है। प्रार्थना करता हूँ दुनिया इस समाप्ति को न जाने। और देखो मैं अब भाभी के पास नहीं जाऊँगा। तुम जा सकती हो लेकिन रमेश के बारे मे कुछ मत कहना। भाभी कहे तो ले चलना। कहीं ।

[आगे वह नहीं बोल सकता। धीरे-धीरे कागज के टुकड़ों को कुरेद-कुरेद-

पांचवां सीन

समय—सन्ध्याकाल ।

स्थान—देवराज का घर ।

[शारदा ने सब सामान सँभाल लिया है। नौकर विस्तर बाधने मे व्यस्त है और वह ट्रङ्क, सूटकेस गिन रही है। स्त्रियाँ अब भी आ जा रही हैं। शारदा काफी थकी जान पड़ती है। उसका सुन्दर चेहरा उतर रहा है। बोलती बोलती रो उठती है। बार-बार आतुरता से बाहर झाँक लेती है। सहसा बिजली का प्रकाश चमक उठता है। तभी देवराज मन्द-मन्द गति से वहाँ आता है। हाथ में एक कागज लिये है। शारदा शीघ्रता से आगे बढ आती है।]

शारदा—बड़ी देर कर दी आपने, कहाँ चले गये थे और आपके हाथ मे क्या है ?

देवराज—(गम्भीरता से) यह भइया की दुकान का कागज़ है।

शारदा—(काँपकर) क्या आ आ ?

देवराज—हाँ शारदा ! मैंने भइया की दुकान गिरवी रखकर उन्हे तीन हज़ार रुपये दे दिये हैं।

[कागज फाड़ने लगता है।]

शारदा—(हतभ्रम होकर) लेकिन इसे फाड़ क्यों रहे है ?

देवराज—(अनसुना करके) आग जलाई है शारदा।

शारदा—आग....। क्यों ?

देवराज—बेशक आग ! शारदा ! सोचता हूँ कल को पागल न हो जाऊँ। इसलिये इस कागज को समूल नष्ट कर देना चाहता हूँ।

चन्द्र-कुमुद

[एक सामाजिक एकांकी नाटक]

—लेखक—

श्री 'नीरव' एम० ए०

कर जलाता है। शारदा क्षण भर स्तम्भित, चकित उन्हें देखती है । फिर सहसा खूँटी पर से चादर उतार लेती है।]

शारदा—लेकिन मुझे तो एक बार जीजी से मिलना ही है। एक बार उनके चरण छूने ही हैं, नहीं तो दुनियां क्या कहेगी।

देवराज—हाँ, हाँ तुम जाओ शारदा । वे तुम्हे इस बात का पता भी नही लगने देंगी।

[शारदा तब बाहर जाती है। नौकर साथ है। वहाँ केवल देवराज रह जाता है। वह बिजली के प्रकाश मे अंगीठी की आग के बनते हुये रंगों को देखता रहता है। धीरे-धीरे उसके मुख का रंग भी पलटता है और आँसुओ की दो बड़ी-बड़ी बूँदे अंगीठी मे गिर पड़ती हैं। एक धीमा सा शब्द होता है और फिर निस्तब्धता छा जाती है।]

———

श्री 'नीरव' एम. ए.

परिचय

श्री 'नीरव' जी हिन्दी के उदीयमान कवि और नाटककार हैं। इन्होंने नाटक पिछले वर्ष ही लिखना प्रारम्भ किया है। स्वभावतः कवि होने के कारण इनके नाटकों में भावुकता और रसावेश अधिक है।

'चन्द्र-कुमुद' एक धनी परिवार का नाटक है जिसमें पुत्र का अभाव दम्पति को खटकता रहता है और एक भिखारी के द्वारा लाए हुए बच्चे पर स्त्री के हृदय में कितनी उथल-पुथल होती है इसका चित्रण नाटक मे है। 'चन्द्र-कुमुद' सामाजिक नाटक है फिर भी इसमें कविता की छाप है। 'नीरव' जी के लिखे हुए नाटकों में 'चन्द्र-कुमुद' का अच्छा स्थान है। आपके दो तीन कविता-संग्रह भी निकल चुके हैं। हिन्दी को इस कवि से विशेष आशाएँ हैं।

चन्द्र-कुमुद

[एक ड्राईंगरूम—जिसका द्वार सामने की ओर पर्दे से बन्द है। आगे एक बराम्दा है जिसके दोनों पार्श्वों मे फूलों से लदे गमले तीन तीन के योग से रक्खे गये हैं। एक स्त्री कल्पना सी सुन्दरी और स्वयं भावुकता की भाँति भावुक—नाम कुमुद—चन्द्र पर राहु की सघन छाया के समान घने केशों का भार बिखेरे हुये ऐसी प्रतीत होती है मानो श्याम मेघों के सुदृढ से वातायन को खोलकर कोई गाधर्व सुन्दरी इस पृथ्वी पर उतर आई हो। अभिव्यक्ति का द्वार पाने के लिये भावना के समान विह्वल चेतना वह स्त्री घूम रही है। अकस्मात् किसी बच्चे के रोने का स्वर। समाधि से सिद्धि के समान सजग वह स्त्री रोने के स्वर की ओर बढकर कुछ रुक जाती है। थोडी देर बाद कमरे के द्वार से एक नौकर आकर दो कुर्सियाँ और एक मेज बराम्दे में लगाकर चला जाता है। उसे देखकर—]

कुमुद—किसका बच्चा था ?

नौकर—(विनयपूर्वक) सुधिया का भाई था। दीवार से नीचे गिर गया।

पात्र-परिचय

चन्द्रवल्लभ	एक धनी
कुमुद	चन्द्रवल्लभ की स्त्री
आगन्तुक	एक दरिद्र पुरुष
सुधिया की माँ	नौकरानी
कमल	पड़ोसी का लड़का
रमुआ	नौकर

सुधिया की माँ—एक हो तो उसका ध्यान रहे, बहुतों की देख-भाल तो अपने आप ही हुआ करती है बीबी जी !

कुमुद—(क्रोध से) आप देखभाल कैसे होती है ? अभी बच्चे का सर फट जाता तो क्या होता। तू कहाँ थी ?

सुधिया की माँ—(भय से) बीबी जी ! मैं तो रसोई मे थी। बच्चे का रोना सुनकर दौड़ती ही गई। मैं तो यह जानकर कि ये कलेजे के टुकड़े हैं इन्हीं के लिये सब कुछ कर रही हूँ। रही इन सबके बाप की बात, सो उन्हें तो अफीम चाहिये। भगवान ऐसा बुरा साथ किसी को न दे। मेरी कमाई इतने भर को होती है। वह तो कही औंधे मुँह नीम के पेड़ तले पडे होंगे। उन्हे बच्चों की क्या चिन्ता।

कुमुद—अच्छा, खैर ध्यान रक्खा कर। तू यही इतने दिनों से नहीं जान पाई कि हम लोग बच्चों का रोना पसन्द नही करते। मेरे यहाँ अब आगे तुम्हारी मूर्खता से कोई ऐसी बात न हो।

सुधिया की माँ—बीबी जी ! आपका स्वभाव अच्छा है। आप इन बच्चों से कभी कभी हँसकर बोल देती हैं नही तो इन बच्चों के लिये मैं कितने घरों की धूल छान चुकी हूँ। क्या अब ये आपको भी बुरे लगने लगे ?

कुमुद—(कुछ शान्त होकर) नही, बच्चे मुझे बिल्कुल बुरे नहीं लगते। मुझे तो क्रोध आता है तुम्हारी सबकी मूर्खता पर कि तुम्हारे इतने बच्चे क्यो हैं जिनकी देखभाल तुमसे नहीं हो सकती। एक आध किसी को दे ही दो तो भी अच्छा है।

कुमुद—(भय और आश्चर्य से) कुछ चोट तो नही लगी ?

नौकर—बाल बाल बच गया, बीबी जी ! नही तो इतनी दूर से गिरकर न जाने क्या हो जाता !

कुमुद—अच्छा, तू जा। सुधिया की माँ को तो जरा मेरे पास भेज दे।

[नौकर जाता है । कुमुद थोड़ा देर व्यस्तमन कभी मेज सम्हालती है कभी कुर्सी ठीक करती है। भोजन बनाने वाली एक अधेड़वय स्त्री—सुधिया की माँ—का प्रवेश।]

कुमुद—(कुछ क्रोध की मुद्रा में) पैदा तो इतने कर लिये हैं किन्तु रक्षा सम्हलकर एक की भी नही कर पाती । तुम सब इतने मूर्ख हो कि कोई ठिकाना नहीं, अकेला बच्चे को वहाँ क्यों छोड़ दिया ?

सुधिया की माँ—बीबी जी ! पैदा करना अपने हाथ की बात नहीं, वह तो भगवान की देन है। वही सबका रखवाला भी है नही तो हम लोग क्या बच्चों को सम्हाल सकते है। सुधिया खिला रही थी, वह भी छोटी ही तो ठहरी, नहीं देख सकी।

कुमुद—भगवान सबका रखवाला है, भगवान तो सबकी रक्षा करने वाला है ही आखिर तुम भी इन बच्चों के कुछ हो या नही। भगवान के बाद माँ बाप का भी तो कुछ कर्त्तव्य है। उनके प्रमाद से ही बच्चों को अनेक कष्ट होते है और जिन माँ बाप के होते हुये बच्चे असावधानी के कारण आई हुई पीड़ायें सहते हैं वे माँ बाप भगवान के सामने बड़े अपराधी है। तुम्हें ध्यान होना चाहिये कि कौन सा बच्चा कहाँ है।

जाते हैं ? अपने आप में चाहे जितना इन्हें कष्ट दे लूँ, किन्तु दूसरे के यहाँ इनका थोड़ा सा दुःख भी मुझसे नहीं देखा जाता।

कुमुद—तो यह बच्चा तुम हमें नहीं दे सकती ?

सुधिया की माँ—नहीं बीबी जी ! आप क्या कह रही हैं, कहीं अपने बच्चे किसी को दिये जाते हैं ?

कुमुद—हाँ, ठीक है। (गहरी साँस) जिसे भाग्य नहीं देता उसे कहीं से भी नहीं मिलता। अच्छा, जाओ अपना काम करो।

[सुधिया की माँ चली जाती है, कुमुद कुछ उदास मन घूमती है और चिन्तित सी बैठकर गाती है।]

गीत

आली ! अपने जीवन की, साध निराली।
यह जान न अब तक पाये
अधरों से अधर लगाये
हम क्या पीते जाते हैं ? खाली प्याली।
फिर और न कुछ आशायें
पीड़ित उर को कर पाये
मैंने अपने भावों की, भीर उठा ली।

[गीत समाप्त होते ही बराम्दे में एक पार्श्व से एक व्यक्ति—चन्द्रवल्लभ (कुमुद का पति)—का प्रवेश। आधुनिक राजनीति के वातावरण में पला हुआ सुशिक्षित, धनसम्पन्न और सुन्दर। खद्दर का श्वेत परिधान।

सुधिया की माँ—कौन लेता है हमारे बच्चे बीबी जी! और कौन दे सकता है?

कुमुद—हम ले सकते हैं। अच्छा, अपना यह छोटा बालक हमें दे दो। उसके चोट तो नहीं आई? हम उसे पाल लेंगे।

सुधिया की माँ—(विस्मय और हर्ष) आप ले सकती हैं! (कुछ प्रसन्नता) आपका तो है ही। आप ही के अन्न जल से उसका पालन हो रहा है और आपके सामने भी रहता है। बस अधिक क्या चाहिये?

कुमुद—मेरा मतलब है कि मैं उसे अपने ही पास रक्खूं और उसका पालन मैं करूं। बड़ा होकर वह हमारा हो। तुम्हें उसकी कोई चिन्ता नहीं होगी क्योंकि हम उसे अपने बच्चे की भाँति रक्खेंगे।

सुधिया की माँ—बीबी जी! हम गरीब लोग। हमारा मैला कुचैला बालक आपके योग्य नहीं। भगवान आपको चाँद से मुख वाला सुन्दर बेटा देगा।

कुमुद—(कुछ चुप रहकर) हमारा ऐसा दानी कोई भगवान नहीं। मैं जब इस बच्चे को तुम्हारे यहाँ दुःखी देखती हूँ तो न जाने क्यों मुझे बड़ा दुख होता है। इसी से मेरा मन और भी उसकी ओर लग गया है। तुम्हारी क्या हानि है यदि इस एक बच्चे को हम ले लें। रहेगा तो तुम्हारी आँखों के सामने ही।

सुधिया की माँ—(कुछ चिन्तित सी) नहीं, बीबी जी! हमारा क्या ठिकाना। आज यहाँ हैं कल का कोई पता नहीं और फिर अपने बच्चे जहाँ तक अपनी चले अपनी छाती से कभी अलग किये

करती हो। तुम्हारे भावों की दुनिया कितनी छोटी है, यदि इसकी परिधि बढ़ाओ तो अभाव स्वयं ही कम हो सकते हैं। क्या तुम्हें इससे संतोष नहीं कि तुम्हारे न सही तुम्हारे समीप रहने वालों के तो सन्तान है। उन्हें अपना सा मानो। अपने बच्चों सा प्यार करो।

[इसी बीच से नौकर आकर चाय के लिए पूछता है और स्वीकृति लेकर चला जाता है। कुमुद खिन्न मन मेज को दोनों कुर्सियों के बीच में रखकर बोलती है।]

कुमुद—यही क्या कम संतोष का आधार है? परन्तु जहाँ जीवन का यह आधार प्राप्त है वहाँ धन, कीर्ति और सुख का उपयोग? इन विभूतियों से रहित स्त्री पुरुष संतोष से अधिक सुख प्राप्त कर सकते हैं और जिनके पास इनका भण्डार है उन्हें तो ये और भी पीडित कर सकते हैं।

चन्द्रवल्लभ—अपने अपने मन की बात है। मैं तो पूर्णतया संतुष्ट हूँ। मुझे न किसी अभाव की पीड़ा है और न किसी भी अपूर्णता का दुःख।

कुमुद—आप सतुष्ट हैं, ठीक है होंगे, क्योंकि आप तो सबके सुख को अपना सुख मानते है, समीप रहने वालों के बच्चों को अपना लेते हैं। मैं तो आज सुधिया की मा से कहती रही कि वह अपना छोटा बच्चा मुझे दे दे। भला कोई किसी को अपनी औलाद देता है और आपकी भाँति यदि कल्पना मात्र से सब सतोष कर लें तब तो संसार में किसी को दु:ख ही न हो। क्या

आकर समीप ही दूसरी कुर्सी पर बैठ जाता है। स्त्री एक मन्दस्मिति के साथ सस्पृह दृष्टि से उसकी ओर देखती है।]

चन्द्रवल्लभ—अपने अभावों को सभी संख्या से अधिक गिना करते है कुमुद! परन्तु इस गणना से उनकी हानि नहीं होती। जब तक संसार मे यह अभावों का भण्डार अक्षय है हमे जीवन से मोह है। क्या गा रही थी? तुम्हारे जीवन की कौन सी साध सफल नही हुई है?

कुमुद—अभाव के कारण हम चिन्तित रहते हैं दुःखी नहीं होते, यह सत्य होता है क्योंकि उसमें जीवन की गति की वेदना की हलकी सी प्रतारणा से सदा प्रोत्साहन मिलता रहता है, किन्तु हमारा अभाव अभाव नही वह जीवन की ऐसी अपूर्णता है जिसके साम्राज्य मे हमारी आशा और कल्पनायें भूखों मरती हैं, हृदय अपना भार ढोते थका जा रहा है।

चन्द्रवल्लभ—तुम्हारे हृदय को थकने का कोई कारण नहीं। तुम्हे यश प्राप्त है, समृद्धि प्राप्त है, जीवन और प्रेम का सुख तुम्हारा है फिर किस प्राप्य के लिये तुम्हारी साधना इतनी व्याकुल है?

कुमुद—यश, धन, प्रेम और सुख की प्राप्ति से ही संसार की प्राप्ति समाप्त नही हो जाती। पारिवारिक जीवन में इन सबसे अधिक कुछ और है जिसके बिना सब कुछ अधूरा है।

चन्द्रवल्लभ—(निराशा से मुख ऊपर उठाते हुए) मनुष्य की समस्त सफलताओं पर भाग्य का अधिकार है। तुम एक छोटी सी बात के लिये, यह जानती हुई भी इतना परिताप

कमल ! देखो तुम्हारे बाबू तुम्हें सिनेमा साथ नहीं ले जाते । तुम हमारे यहाँ रहा करो तो हम साथ चला करेंगे ।

[कमल कुछ अनसुनी करके पास रक्खी ऊन उठाकर बोलता है ।]

बालक—क्या आप स्वेटर बनायेंगी ? किसके लिये बनाइयेगा ? हमारे बाबू जी तो कहते हैं बुनने से आँखे खराब हो जाती है । (जाने लगता है ।) अच्छा तो आप ६ बजे तक आ जाइयेगा, या मैं फिर आऊँ ?

कुमुद—हाँ, मै आ जाऊँगी ।

[बालक चला जाता है, स्त्री पुरुष की ओर देखकर उठती है और कमरे में जाने लगता है ।]

—देखा आपने छोटा सा बालक कितना चतुर और बहुभाषी है । जब घर आता है तो कितना उजाला हो जाता है । चले जाने के बाद हमारे सूने घर में उसकी विनोदभरी बातें प्रतिध्वनित होती रहती हैं ।

चन्द्रवल्लभ—बालकों के कारण घर भरे-पूरे होते हैं । वे घर का प्रकाश है किन्तु जिनके भाग्य की दुनिया में अँधेरा है वहाँ यह चाँद भी उदय नही होते । कुमुद ! जो कुछ तुम्हे प्राप्त है उसी पर संतोष करो । यह कमल भी तो हमारा ही है ।

[कुमुद कमरे मे चली जाती है । पुरुष बराम्दे मे घूमने लगता है । सामने एक ओर से एक व्यक्ति का प्रवेश । खद्दर का कुर्ता, सादी धोती, लम्बे रुख अप्रसाधित केश । गोद मे एक छोटा सा बच्चा हैं ।]

आगन्तुक—(बराम्दे मे घूमते हुए पुरुष से) मैं अबाधगति से आपके यहाँ चला आया आप मुझे क्षमा करेंगे ?

इन भूखे भिखमंगों को दस दस बच्चों का अधिकार है और हमे एक का भी नही ?

[नौकर दो कप चाय और कुछ छिले हुये फल लाकर रख जाता है। सामने से एक ६ वर्ष के सुन्दर से बालक (कमल) का प्रवेश। कुमुद उसे देखकर नौकर को पुकारती है।]

कुमुद—रमुआ! रमुआ! एक कुर्सी रख जा रे।

[नौकर कुर्सी रखकर चला जाता है, फिर एक कप चाय और फल लाता है। लड़का अभिवादन करके बैठ जाता है।]

बालक—आज आपको माता जी ने बुलाया है। शाम को हम लोग एक कन्सर्ट मे जा रहे है, आप भी चलेंगी ?

कुमुद—(कुछ वात्सल्यमयी स्मिति से) नहीं, कमल बाबू! मैं नही जा सकूँगी। आज मेरी तबीयत कुछ ठीक नहीं है।

बालक—(उठकर चलने को तैयार) तो मैं नही बैठता। मै जब आता हूँ तो आप नहीं जाती हैं। मै जाऊँ मुझे घर पर बहुत काम करना है। एक तस्वीर बनाता हुआ छोड़कर आया हूं और आज हमारे यहाॅ नये रिकार्ड आये है। आप चलेगी या नही ?

कुमुद—बैठो, कमल। तुम तो बड़ी जल्दी करते हो। मैंने कहा न मेरी तबीयत खराब है, मैं चलूँगी चाय तो पियो।

बालक—आपके क्या पेट मे दर्द हो रहा है ? (स्त्री पुरुष एक दूसरे को देखकर हॅसते हैं) क्या सर दुखता है ? आजकल दिन ही ऐसे हैं। आप एक गोली क्यों नहीं खा लेतीं, बाबू जी के पास हैं, मैं ला दूँ ?

कुमुद—(हॅसकर) नही, तुम बैठो। मै गोली खा चुकी हूँ।

चन्द्रवल्लभ—आपको किसी योग्य डाक्टर का परामर्श प्राप्त नही हो सका ?

आगन्तुक—डाक्टर का परामर्श ! परामर्श देने से कमाने और दुःख का साथी बनने के लिए हृदय और सहानुभूति की आवश्यकता होती है। डाक्टरों और वैद्यों के पास यह कुछ नही होता। वे तो पैसे के दास होते हैं। रोगी मरता होता है और वे अपनी फीस सम्हालने की जल्दी मे रहते हैं।

चन्द्रवल्लभ—बात तो ठीक है। साधारण स्थिति के लोग जहाॅ अन्य सामाजिक सुविधाओं से वंचित हैं वहाॅ उन्हे दवादारू की समस्या भी एक रोग है और फिर यदि कहीं कोई ऐसा रोग पीछे लग जाय जो पैसा भी ले और प्राण भी तब तो बेचारा आदमी कही का नहीं रहता है। क्या आपके परिवार मे और कोई नहीं ?

आगन्तुक—एक इस बच्चे की १२ वर्ष की बहिन है, वह भी पंद्रह दिन से बीमार है, घर पर अकेली पड़ी है। यह रो रहा था तो इसे बहलाने मैं इधर निकल पड़ा।

चन्द्रवल्लभ—तब तो फिर लड़की की परिचर्या भी ठीक नहीं हो रही है।

[कुमुद अन्दर से आती है। चन्द्रवल्लभ बुलाकर पास बैठने का संकेत करता है। वह बच्चे की ओर देखती है और बच्चा उसकी ओर टूटने लगता है।]

—और विशेषकर इस बच्चे को सम्हालने में आपको बड़ा कष्ट होता होगा।

चन्द्रवल्लभ—कोई बात नहीं घर आपका है। (खद्दर के वस्त्रों से मानो बड़ी श्रद्धा जाग गई है।) कहिये मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?

आगन्तुक—मेरा कोई कुछ नहीं कर सकता न किसी ने आज तक किया ही। आपकी यही क्या कम कृपा है कि आप मेरी सहायता करना चाहते है। हाँ, मैं इसलिये आया कि मेरा यह बच्चा कुछ पानी चाहता है। मिलेगा ?

चन्द्रवल्लभ—अवश्य। (नौकर को बुलाकर) रमुआ! पानी का एक गिलास दे जा। (आगन्तुक से) यह बच्चा आपका है ?

आगन्तुक—जी हाँ, यह अभागा बालक मेरा ही है। (पानी आ जाता है, पिलाता है।)

चन्द्रवल्लभ—अभागा क्यों ? सुन्दर है और स्वस्थ्य भी। इसकी माँ ?

आगन्तुक—तभी तो मैंने अभागा कहा। इसकी माँ लगभग महीना हुआ होगा स्वर्ग चली गई। अकेले इसकी देखभाल करने वाला मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं।

चन्द्रवल्लभ—इसकी माँ को क्या हुआ था ? कुछ बीमार रहीं ?

आगन्तुक—हम श्रमश्रेणी के व्यक्तियों के लिए कुछ थोड़ा हो जाना भी वहुत है। घरेलू देख-रेख मैं करता रहा और इससे अधिक हो भी क्या सकता था। इलाज तो धनवान लोगों का मोल लिया हुआ अधिकार है। और हम ? हम तो धन के अभाव मे अपने रोगी को आँसुओं का घूंट पीते हुये विदा होते देखना भाग्य की एक साधारण घटना मानते है।

बच्चों के पालने मे जो कठिनाइयाॅ होती हैं आप उनके अनुभव से अनभिज्ञ है। आपके यहाॅ हमारा 'प्रकाश' सुखी त अवश्य रहेगा। अच्छा ले लीजिए।

कुमुद—(बड़े हर्ष से हाथ बढाकर ले लेती है। पुरुष की ओर देखकर) हमारे घर प्रकाश आ गया।

चन्द्रवल्लभ—(कुछ नोट निकालकर आगन्तुक को देता है और बोलता है) आप अपनी लड़की का इस धन से ठीक इलाज कराइये।

कुमुद—अच्छा हो आप उस लड़की को भी यहाॅ ले आवें, वह भी तो हमारी ही लड़की है। उसकी चिकित्सा का प्रबन्ध हम करेंगे।

[आगन्तुक बड़े जोर से हँसता है और फिर चुप होकर उठता है। स्त्री पुरुष अन्दर कमरे मे जाते हैं। आगन्तुक कुछ आगे बढकर फिर पीछे की ओर देखता है। एक स्त्री—सुधिया की माँ—सकेत से बुलाकर कहती है।]

सुधिया की माॅ—आपने अपना बच्चा इन्हें दे दिया? क्या आपने रुपये भी लिये हैं? मेरा बच्चा भी ये लोग माॅगते रहे। बाबूजी मैं तो ठहरी एक गरीबनी तो भी मैंने तो दिया नहीं। आप न जाने कैसे पत्थर का कलेजा करके बालक को अलग कर सके।

[आगन्तुक बिना उत्तर दिये ही आगे बढ जाता है और स्त्री ऊन उठाकर अन्दर चली जाती है।]

आगन्तुक—(धीरे धीरे विचार करता हुआ बढता है, और बोलता है)

आगन्तुक—हाँ, कष्ट तो है ही किन्तु क्या किया जाय, कोई ऐसी है भी तो नहीं जिसके यहाँ इसे रख दूँ। इतना ही है कि जो गया सो गया और जो शेष है उसकी ही रक्षा में गया गया हुआ सा प्रतीत नहीं होता।

चन्द्रवल्लभ—आप तो बड़ा साहस करते है। आप जैसे व्यक्ति के सामने कितनी ही और गभीर समस्यायें होंगी! यदि आप स्वीकार करें तो मै आपको एक सुझाव बतलाऊँ। आपके कुछ कष्ट तो दूर हो ही सकते हैं।

आगन्तुक—अवश्य, कहिये मे आपके परामर्श का यथा-सम्भव सत्कार करूँगा।

चन्द्रवल्लभ—आप इस बच्चे को हमारे यहाँ छोड़ दें। अपनी परिस्थितियों के कारण जिस साहस और उत्सुकता के साथ आपको काम करना चाहिये वैसा आप नही कर सक रहे होंगे। (कुमुद की ओर संकेत करके) यह मेरी पत्नी है। इन्हें एक बच्चे की कामना है और हम लोग बच्चों के सुख से वचित भी हैं।

आगन्तुक—बात तो आपने बहुत उचित कही, किन्तु आप मेरे बच्चे को रख सकेंगे? विपम परिस्थितियों मे पला हुआ यह हठी बालक जो माँ की याद में रोते रोते और भी चिड़चिड़ा हो गया है आपके यहाँ कैसे रहेगा?

चन्द्रवल्लभ—(स्त्री की ओर) पाल सकोगी बोलो?

कुमुद—(बड़े हर्ष से) हाँ, पाल सकूँगी। लाइये मुझे यह प्राणों से अधिक प्रिय होगा।

आगन्तुक—(गंभीर होकर) आप रख लेंगी? (थोड़ी देर चुप होकर)

आगन्तुक—(नोटों की गड्डी मेज़ पर रखकर) विचार कर लिया। अपनी संतान अपने से जान बूझकर अलग नहीं की जा सकती।

चन्द्रवल्लभ—अच्छा ले जाइये। हम निस्संतान दम्पति आपके इस हठ का मूल्य क्या समझें।

पटाक्षेप

बच्चा दे दिया। रुपये ले लिये। यह स्त्री क्या कह रही थी? (कुछ ठहरकर) क्या मैंने अपना बच्चा बेच दिया है। संतान बेची नही जाती। (आगे बढता है) मैंने बेचा तो नही, 'प्रकाश' यहाँ सुखी रहेगा और अब सुनीता की चिकित्सा भी हो जायगी। (कुछ चुप होकर विचार करता है) ऐ! क्या प्रकाश रो रहा? ? (ठहरकर) अवश्य रो रहा है। मैंने कहा न चिडचिडा हो गया है। ये लोग उसे नहीं रख सकते।

[पीछे लौटता है और वहीं आकर द्वार खटखटाता है। थोड़ी देर मे वही स्त्री पुरुष सजे हुए कहीं जाने को निकलते है।]

आगन्तुक—आप मेरा प्रकाश मुझे दे दीजिये। आप उसे नही रख सकते।

चन्द्रवल्लभ—हम नहीं रख सकते, यह आपसे किसने कहा? आप विश्वास रखिये वह हमारे यहां बड़े सुख से रहेगा। अभी अभी दूध पीकर सो गया है। अभी अभी तो तुमने दिया था अब इतनी जल्दी विचार क्यों बदल दिया?

आगन्तुक—हाँ, ठीक है आपके यहाँ सुखी रहेगा, मुझे इसका क्या विश्वास। आपके पास न मेरा हृदय है और न मेरी दृष्टि। अब मुझे दे दीजिये। मैं ले जाऊँगा।

चन्द्रवल्लभ—(स्त्री की ओर देखकर) यह बच्चे को माँग रहे है।

कुमुद—माँग रहे है? (चुप होकर धीरे मे) दे दीजिये। हमारा भाग्य ही ऐसा है तो क्या किया जाय।

चन्द्रवल्लभ—देखिये, आप एक बार फिर अपनी परिस्थितियों पर विचार कर लीजिये